आपकी घड़ी की कीमत है आपकी खरीद हुई प्रत्येक वस्तु की कीमत है किन्तु कीमत करने वाले की कीमत क्या है? अभी यह जानना शेष है। जिसने इसको जान लिया उसने महावीर भगवान को जान लिया। अपनी आत्मा को जान लेना ही सारे विश्व को जान लेना है। भगवान महावीर के दिव्य ज्ञान में सारा विश्व प्रतिबिंबित है। उन्होंने अपनी आत्मा को जान लिया है। अपने शुद्ध आत्म-तत्व को प्राप्त कर लिया है। अपने आप को जान लेना ही हमारी भारतीय संस्कृति की विशेषता है। यही अध्यात्म की उपलब्धि है। जहाँ आत्मा जीवित है वहीं ज्ञेय-पदार्थों का मूल्यांकन भी संभव है।

शुद्ध आत्मतत्व का निरीक्षण करने वाला व्यक्ति महान और पवित्र होता है। उसके कदम बहुत ही धीमे-धीमे उठते हैं किन्तु ठोस उठते हैं, उनमें बल होता है, उनमें गांभीर्य होता है, उसके साथ विवेक जुड़ा हुआ रहता है। विषय कषाय उससे बहुत पीछे छूट जाता हैं।

जो व्यक्ति वर्तमान में ज्ञानानुभूति में लीन है वह व्यक्ति आगे बहुत कुछ कर सकता है किन्तु आज व्यक्ति अतीत की स्मृति में उसी की सुरक्षा में लगा है या फिर भविष्य के बारे में चिंतित है कि आगे क्या होगा? इस प्रकार वह स्वयं वर्तमान पुरुषार्थ को खोता जा रहा है। वह भूल रहा है कि वर्तमान में से ही भूत और भविष्य निकलने वाले हैं। अनागत भी इसी में से आयेगा और अतीत भी इसी में ढलकर निकल चुका है। जो कुछ कार्य होता है वह वर्तमान में होता है और विवेकशील व्यक्ति ही उसका संपादन कर सकता है। भविष्य की ओर दृष्टि रखने वाला आकांक्षा और आशा में जीता है अतीत में जीना भी बासी खाना है। वर्तमान में जीना ही वास्तविक जीना है।

अतीत भूत के रूप में व्यक्ति को भयभीत करता है और भविष्य की आशा, 'तृष्णा' बनकर नागिन की तरह खड़ी रहती है जिससे व्यक्ति निश्चिंत नहीं हो पाता। जो वर्तमान में जीता है वह निश्चिंत होता है, वह निडर और निर्भीक होता है। साधारण सी बात है कि जिस व्यक्ति के वर्तमान में अच्छे कदम नहीं उठ रहे उसका भविष्य अंधकारमय होगा ही। कोई चोरी करता रहे और पूछे कि मेरा भविष्य क्या है? तो भैया वर्तमान में चोरी करने वालों का भविष्य क्या जेल में व्यतीत नहीं होगा, यह एक छोटा सा बच्चा भी जानता है। यदि हम उज्जवल भविष्य चाहते हैं तो वर्तमान में रागद्वेष रूपी अपराध को छोड़ने का संकल्प लेना होगा।

अतीत में अपराध हो गया कोई बात नहीं। स्वीकार कर लिया। दंड भी ले लिया। अब आगे प्रायश्चित करके भविष्य के लिए अपराध नहीं करने का जो संकल्प ले लेता है वह ईमानदार कहलाता है। वह अपराध अतीत का है, वर्तमान का नहीं। वर्तमान यदि अपराध-मुक्त है तो भविष्य भी उज्जवल हो सकता है। यह वर्तमान पुरुषार्थ का परिणाम है। भगवान महावीर यह कहते हैं कि डरो मत! तुम्हारा अतीत पापमय रहा है किन्तु यदि वर्तमान सच्चाई लिए हुए हैं तो भविष्य अवश्य उज्जवल रहेगा। भविष्य में जो व्यक्ति आनन्दपूर्वक, शान्तिपूर्वक जीना चाहता है उसे वर्तमान के प्रति सजग रहना होगा।

पाप केवल दूसरों की अपेक्षा से ही नहीं होता। आप अपनी आत्मा को बाहरी अपराध से सांसरिक भय के कारण भले ही दूर रख सकते हैं किन्तु भावों से होने वाला पाप, हिंसा, झूठ चोरी आदि हटाये बिना आप पाप से मुक्त नहीं हो सकते। भगवान महावीर का जोर भावों की निर्मलता पर है' जो स्वाश्रित है। आत्मा में जो भाव होगा वही तो बाहर कार्य करेगा। अंदर जो गंदगी फैलेगी वह अपने आप बाहर आयेगी। बाहर फैलने वाली अपवित्रता के स्रोत की ओर देखना आवश्यक है। यही आत्मानुशासन है जो विश्व में शांति और आनंद फैला सकता है।

जो व्यक्ति कषाय के वशीभूत होकर स्वयं शासित हुए बिना विश्व के ऊपर शासन करना चाहता है, वह कभी सफलता नहीं पा सकता। आज प्रत्येक प्राणी राग, द्वेष विषय-कषाय और मोह-मत्सर को संवरित करने के लिए संसार की अनावश्यक वस्तुओं का सहारा ले रहा है। यथार्थतः देखा जाये तो इन सभी को जीतने के लिए आवश्यक पदार्थ एक मात्र अपनी आत्मा को छोड़कर और दूसरा है ही नहीं। आत्म-तत्व का आलंबन ही एकमात्र आवश्यक पदार्थ है। क्योंकि आत्मा ही परमात्मा के रूप में ढलने की योग्यता रखता है।

इस रहस्य को समझना होगा कि विश्व को संचालित करने वाला कोई एक शासन कर्ता नहीं है और न ही हम उस शासक के नौकर-चाकर हैं। भगवान महावीर कहते हैं कि प्रत्येक आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है। परमात्मा की उपासना करके अनंत आत्माएँ स्वयं परमात्मा बन चुकी हैं और आगे भी बनती रहेगी। हमारे अंदर जो शक्ति राग द्वेष और मोह रूपी विकारी भावों के कारण तिरोहित हो चुकी है उस शक्ति को उद्घाटित

करने के लिए और आत्मानुशासित होने के लिए समता भाव की अत्यन्त आवश्यकता है।

वर्तमान में समता का अनुसरण न करते हुए हम उसका विलोम परिणमन कर रहे हैं। समता का विलोम है तामस। जिस व्यक्ति का जीवन वर्तमान में तामसिक तथा राजसिक है, सात्विक नहीं है, वह व्यक्ति भले ही बुद्धिमान हो, वेदपाठी हो तो भी तामसिक प्रवृत्ति के कारण कुपथ की ओर ही बढ़ता रहेगा। यदि हम अपनी आत्मा को जो राग, द्वेष, मोह, मद, मत्सर से कलंकित हो चुकी है, विकृत हो चुकी है उसका संशोधन करने के लिए महावीर भगवान की जयन्ती मनाते हैं तो यह उपलब्धि होगी। केवल लंबी-चौड़ी भीड़ के समक्ष भाषण आदि के माध्यम से प्रभावना होने वाली नहीं है। प्रभावना उसके द्वारा होती है जो अपने मन के ऊपर नियन्त्रण करता है और सम्यग्ज्ञान रूपी रथ पर आरूढ़ होकर मोक्षपथ पर यात्रा करता है। आज इस पथ पर आरूढ़ होने की तैयारी होनी चाहिये।

'चेहरे पर चेहरे हैं बहुत-बहुत गहरे हैं। खेद की बात तो यही है, वीतरागता के क्षेत्र में अंधे और बहरे हैं', आज मात्र वीतरागता के नारे लगाने की आवश्यकता नहीं है। जो परिग्रह का विमोचन करके वीतराग पथ पर आरूढ़ हो चुका है या होने के लिए उत्सुक है वही भगवान महावीर का सच्चा उपासक है। मेरी दृष्टि में राग का अभाव दो प्रकार से पाया जाता है, अराग अर्थात् जिसमें रागभाव संभव ही नहीं है ऐसा जड़ पदार्थ और दूसरा वीतराग अर्थात् जिसने राग को जीत लिया है जो रागद्वेष से ऊपर उठ गया है। सांसारिक पदार्थों के प्रति मूर्छा रूप परिग्रह को छोड़कर जो अपने आत्म स्वरूप में लीन हो गया है। पहले राग था अब उस राग को जिसने समाप्त कर दिया है जो समता भाव में आरूढ़ हो गया है, वही वीतराग है।

राग की उपासना करना अर्थात् राग की ओर बढ़ना एक प्रकार से महावीर भगवान के विपरीत जाना है। यदि महावीर भगवान की ओर, वीतरागता की ओर बढ़ना हो तो धीरे-धीरे राग कम करना होगा। जितनी मात्रा में राग आप छोड़ते हैं, जितनी मात्रा में स्वरूप पर दृष्टिपात आप करते हैं, समझिये उतनी मात्रा में आप आज भी महावीर भगवान के समीप हैं, उनके उपासक हैं। जिस व्यक्ति ने वीतराग पथ का आलम्बन लिया है उस व्यक्ति ने ही वास्तव में भगवान महावीर के पास जाने का प्रयास किया है। वही व्यक्ति आत्म-कल्याण के साथ-साथ विश्व कल्याण कर सकता है।

आप आज ही यह संकल्प कर लें कि हम अनावश्यक पदार्थों को, जो जीवन में किसी प्रकार से सहयोगी नहीं है, त्याग कर देंगे। जो आवश्यक हैं उनको भी कम करते जायेंगे। आवश्यक भी आवश्यकता से अधिक नहीं रखेंगे। भगवान महावीर का हमारे लिए यही दिव्य संदेश है कि जितना बने, उतना अवश्य करना चाहिये। यथाशक्ति त्याग की बात है। जितनी अपनी शक्ति है, जितनी ऊर्जा और बल है उतना तो कम से कम वीतरागता की ओर कदम बढ़ाइये। सर्वाधिक श्रेष्ठ यह मनुष्य पर्याय है। जब इसके माध्यम से आप संसार की ओर बढ़ने का इतना प्रयास कर रहे हैं तो यदि चाहें तो अध्यात्म की ओर बढ़ सकते हैं। शक्ति नहीं है, ऐसा कहना ठीक नहीं है।

'संसार सकल त्रस्त है, पीड़ित व्याकुल विकल/इसमें है एक कारण/हृदय से नहीं हटाया विषय राग को/हृदय में नहीं बिठाया वीतराग को/जो शरण, तारण-तरण, दूसरे पर अनुशासन करने के लिए तो बहुत परिश्रम उठाना पड़ता है पर आत्मा पर शासन करने के लिए किसी परिश्रम की आवश्यकता नहीं है। एक मात्र संकल्प की आवश्यकता है। संकल्प के माध्यम से मैं समझता हूँ। आज का यह हमारा जीवन जो कि पतन की ओर है वह उत्थान की ओर, पावन बनने की ओर जा सकता है। स्वयं को सोचना चाहिये कि अपनी दिव्य शक्ति का हम कितना दुरुपयोग कर रहे हैं।

आत्मानुशासन से मात्र अपनी आत्मा का ही उत्थान नहीं होता अपितु बाहर जो भी चैतन्य है, उन सभी का उत्थान भी होता है। आज भगवान का जन्म नहीं हुआ था, बल्कि राजकुमार वर्धमान का जन्म हुआ था। जब उन्होंने वीतरागता धारण कर ली, वीतराग-पथ पर आरूढ़ हुए और आत्मा को स्वयं जीता, तब महावीर भगवान बने। आज मात्र भौतिक शरीर का जन्म हुआ था। आत्मा तो अजन्मा है। वह तो जन्म-मरण से परे है। आत्मा निरन्तर परिणमनशील शाश्वत द्रव्य है। भगवान महावीर जो पूर्णता में ढल चुके हैं उन पवित्र दिव्य आत्मा को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। 'यही प्रार्थना वीर से, अनुनय से कर जोर। हरी भरी दिखती रहे, धरती चारों ओर।"

□□

ब्रह्मचर्य : चेतन का भोग

ब्रह्मचर्य की व्याख्या आप लोगों के लिए नई नहीं है किन्तु पुरानी होते हुए भी उसमें नयापन है। वह हमेशा सामयिक है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है अपनी परोन्मुखी उपयोग धारा को स्व की ओर मोड़ना। दृष्टि अन्तर्दृष्टि बन जाये। बाहरी पथ पर यात्रा न होकर अन्तरपथ पर यात्रा हो। बहिर्जगत शून्यवत् हो जाए। अन्तर्जगत् उद्घाटित हो। ब्रह्मचर्य का अर्थ वस्तुतः है-चेतन का भोग। ब्रह्मचर्य का अर्थ भोग से निवृत्ति नहीं बल्कि भोग से एकीकरण और रोग से निवृत्ति है। जिसे आप लोगों ने भोग माना है वह वास्तव में रोग है। उस रोग से निवृत्ति ही ब्रह्मचर्य है।

लगभग दस साल पूर्व की बात है एक विदेशी आया था, उसका कहना था कि ब्रह्मचर्य पूर्वक रहना कठिन है। आप इसे न अपनायें क्योंकि आज के वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि भोग के बिना जीवन संभव नहीं है। मैंने कहा कि ठीक है भोग जहाँ है वहीं पर जीवन है। यह मैं भी मानता हूँ। लेकिन जिसे आप भोग समझते हैं उसे मैं भोग नहीं समझता, उसे तो मैं रोग मानता हूँ। आपका भोग का केन्द्र भौतिक सामग्री है। हमारे यहाँ भोग की सामग्री बनती है चैतन्य शक्ति। विषय वासना तो मृत्यु का कारण हैं, दुख की ओर ले जाने वाली है। लेकिन ब्रह्मचर्य तो जीवन है, आनन्द है सुख का मूल है। जो सुख चाहते हैं वे चाहे इसे आज अपनावें या कभी भी अपनावें किन्तु अपनाना अवश्य पड़ेगा। रोग की निवृत्ति के लिए जैसे औषधि अनिवार्य है इसी प्रकार ब्रह्मचर्य भी औषधि है जो वासना से निवृत्ति के लिए अनिवार्य है।

भगवान महावीर के अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह इन पाँच सूत्रों में से यह चौथा सूत्र ब्रह्मचर्य बहुत महत्वपूर्ण है अपने में पूर्ण है। जितने भी अनन्त सुख के भोक्ता आज तक बने हैं सबने इसका समादर किया है। इसे जीवन में अपनाया है। ब्रह्मचर्य पूज्य बना किन्तु कभी भोग सामग्री पूज्य नहीं बनी। इतना अवश्य है कि ब्रह्मचर्य को पूज्य मानने के बाद आपकी दृष्टि में आदर अभी भी भोग सामग्री का है और यही दयनीय है, दुखद है।

जैन साहित्य हो या अन्य कोई दार्शनिक साहित्य हो, सभी को देखने पर विदित होता है कि आत्मा को सही-सही रास्ता तभी मिल सकता है जब हम उपलब्ध साहित्य का अध्ययन चिंतन, मनन व मन्थन करें। हम उसे मात्र पढ़कर या सुनकर बैठ न जायें। सुनने से पहले या पढ़ने से पहले विचार अवश्य करें कि क्यों सुन रहे हैं। दवाई लेने से पूर्व हम यह निर्णय अवश्य करते हैं कि दवा क्यों ले रहे हैं? उसी प्रकार सुनने या पढ़ने से पूर्व प्राप्ति का लक्ष्य अवश्य होना चाहिए। जितना सुनें या पढ़ें उससे कम से कम आठ गुना चिंतन मंथन अवश्य करें। खाने के साथ-साथ पचाना भी अनिवार्य है। जो खाया है उसके पचने पर ही सारभूत भाग प्राप्त होता है।

उपयोग की धारा को बाहर से अन्दर की ओर लाना ही ब्रह्मचर्य है। उपयोग की धारा जो अभी बाहर अटक रही है वहाँ से स्थानान्तरित हो जाये और चाहे अपनी आत्मा की गहराई में चली जाये, चाहे दूसरे की आत्मा में चली जाये, उपयोग को खुराक मिलनी चाहिये आत्म तत्व की, जहाँ पर अनन्त निधियाँ छिपी हैं। जब आत्म-सम्पदा ही उपयोग की खुराक बन जायेगी तभी आत्मा, जो अनादि काल से तप्त है वह अनन्तकाल के लिए तृप्त हो जायेगी।

ब्रह्मचर्य का विरोधी धर्म है 'काम'। यह 'काम' और कोई चीज नहीं है यह वही उपयोग है जो बहिर्वृत्ति को अपनाता आ रहा है। जो भौतिक सामग्री में अटका हुआ है। 'काम' को अग्नि माना गया है। इस कामाग्नि को प्रदीप्त करने वाली भौतिक सामग्री है, जो सर्वत्र बिखरी हुई है। यह कामाग्नि अनादिकाल से जला रही है आत्मा को। इसमें से अपने को निकालना है और वहाँ पर पहुँचना है जहाँ चारों ओर है शान्ति, सुख और आनंद।

इस 'काम' के ऊपर विजय पाने का अर्थ है अपने बाहर की ओर जा रहे उपयोग को आत्मा में लगाना, चाहे स्वात्मा हो या परमात्मा। काम-पुरुषार्थ का उल्लेख आता है भारतीय साहित्य में। सामान्य रूप से इस काम-पुरुषार्थ का अर्थ भोग ही लिया जाता है। लेकिन ऐसा नहीं है। यहाँ भी दृष्टि चैतन्य की ओर होना चाहिये। काम-पुरुषार्थ का अर्थ मात्र बाह्य पदार्थों में रमण करते रहना नहीं है। काम-पुरुषार्थ में तीन शब्द हैं काम+पुरुष+अर्थ। काम अर्थात् भोग, पुरुष यानी आत्मा और अर्थ अर्थात् प्रयोजन। इस तरह काम-पुरुषार्थ का अर्थ हुआ कि ऐसा भोग जिसमें प्रयोजन आत्मा से है। चैतन्य भोग के बिना हम आत्मा तक पहुँच नहीं सकते। पहुँचना वहीं पर है पुरुष तक। पुरुष तक अर्थात् आत्मा तक पहुँचने के लिए यह 'काम' सहायक तत्व हैं।

आप लोग पुरुष तक नहीं पहुँचते। पुरुष तक पहुँचने वाला पुरुषार्थी होता है और बाह्य भौतिक सामग्री में अटकने वाला गुलाम होता है। जिस व्यक्ति का लक्ष्य पुरुष (आत्मा) नहीं है, वह गुलाम तो है ही। जड़ अचेतन पदार्थों के पीछे पड़ा हुआ व्यक्ति चेतन द्रव्य होते हुए भी जड़ होना चाहिए। जो लक्ष्य से पतित है वह भटका हुआ ही है। काम-पुरुषार्थ को उन्नत बनाने के लिए भारतीय आचार संहिता में विवाह के ऊपर जोर दिया गया। विवाह भी ब्रह्मचर्य के निकट जाना है। विवाह की डोरी में बंधने के बाद वह आत्मा फिर चारों ओर से अपने आप को छुड़ा लेता है और उस डोरी के सहारे वह आत्मा तक पहुँचने का प्रयास भी करता है।

जैसे किसी बहाव को देश से देशान्तर ले जाना हो तो एक निश्चित रास्ता देना होगा तभी वह बहाव वहाँ तक पहुँच पायेगा अन्यथा किसी भी दिशा में बहकर या मरुभूमि में जाकर समाप्त हो जायेगा। इसी प्रकार उपयोग की धारा को बहने के लिए यदि कोई एक निश्चित रास्ता आपके पास नहीं है तो वह अनन्त दिशाओं में बहेगा और समाप्त हो जायेगा। विवाह के माध्यम से उपयोग की धारा को एक दिशा दी जाती है तब अनन्त दिशाओं में उसका जाना बंद हो जाता है आज विवाह मात्र रूढ़ि बन गया है और विवाह के उपरान्त भी कोई व्यक्ति आत्मा की ओर गतिशील नहीं होता। उपयोग की धारा यहाँ-वहां भटककर लुप्त हो जाती है।

जिस समय विवाह-संस्कार होता है उस समय उस उपयोगवान् आत्मा को संकल्प दिया जाता है कि अब तुम्हारे लिए संसार में इस एक आत्मा (स्त्री) के अलावा शेष जो स्त्रियां हैं वे सब माँ, बहिन और पुत्री के समान हैं। यही एकमात्र रास्ता है जिसके माध्यम से अपने चैतन्य तक पहुँचना है। प्रयोगशाला में जैसे एक विज्ञान का विद्यार्थी जाता है प्रयोग करना प्रारंभ करता है और जिस पर प्रयोग करता है उसी में उसकी दृष्टि लीन हो जाती है और वह आसपास क्या हो रहा है, यह तो भूल ही जाता है स्वयं को भी भूल जाता है एकमात्र उपयोग अपना काम करता है, तब वह विद्यार्थी सफलता प्राप्त करता है। प्रयोग के माध्यम से अपने विश्वास को दृढ़ बना लेता है। ऐसी ही प्रयोगशाला है विवाह। जहाँ प्रयोग करने वाले दो विद्यार्थी हैं पति और पत्नी।

पत्नी के लिए प्रयोगशाला पुरुष है और पति के लिए प्रयोगशाला पत्नी है। प्रयोग का विषय शरीर नहीं, आत्मा है। क्योंकि वे बाह्य में भले ही स्त्री

और पुरुष हैं पर अन्दर से दोनों पुरुष अर्थात् आत्मा हैं। परस्पर वेद के भेद भी वहाँ पर अभेद के रूप में परिणत होते हैं। स्त्री पुरुष का भेद होने पर भी यात्रा अभेद आत्मा की ओर आरम्भ होती है। यही विवाह की पृष्ठभूमि है। अभी तक आप लोगों ने विवाह तो किया पर पति-पत्नी ने परस्पर एक दूसरे को भोग सामग्री माना है। इस प्रकार विवाह, बंधन हो गया है। इसलिए जैसे-जैसे भौतिक कायाएं सूखने लगती हैं वैसे-वैसे परस्पर एक दूसरे के प्रति आकर्षण कम हो जाता है, बीच में दीवार खिंच जाती है। संबंध फिर निभता नहीं, निभाना पड़ता है।

जैसे दो बैल एक गाड़ी में जोत दिये जायें और एक बैल पूर्व की ओर जाये और दूसरा पश्चिम की ओर तो गाड़ीबान को पसीना आने लगता है। गाड़ी आगे नहीं चल पाती। तब गृहस्थी की गाड़ी रुक जाती है। आप लोग आदर्श विवाह तो करते हैं दहेज से परहेज नहीं बना पाते। इसलिए विवाह के उपरान्त आर्थिक विकास भले ही हो किन्तु पारमार्थिक विकास नहीं हो पाता।

आदर्श-विवाह था राम और सीता का। दोनों ने विवाह के माध्यम से उस संबंध के माध्यम से अपने जीवन को सफलीभूत बनाया है। परस्पर एक दूसरे के सिवाय उनकी दृष्टि से जो अनन्त सामग्री चारों ओर बिछी थी, वह भोग सामग्री नहीं थी। जैसे प्रयोगशाला में विद्यार्थी को इधर-उधर रखें पदार्थों से कोई सरोकार नहीं रहता, इसी प्रकार उन्हें भी बाहर की वस्तुओं से कोई मतलब नहीं था। उनकी यात्रा अपनी ओर अनाहत चल रही थी। रावण ने हजारों स्त्रियां होने के बाद भी एक भूमिगोचरी सीता पर दृष्टिपात किया। सीता की आत्मा के ऊपर उसकी दृष्टि नहीं पहुँची। वह मात्र काया की माया में डूब गया। और उसकी जीवन की यात्रा रुक गयी।

यदि उसकी दृष्टि सीता की आत्मा तक पहुँच जाती तो उसे अवश्य मार्ग मिल जाता और उसका जीवन सुधर जाता। सीता के माध्यम से राम का जीवन सुधरा और राम के जीवन के माध्यम से सीता का जीवन सुधरा। वे दोनों एक दूसरे के पूरक बने। जैसे कि राह में दो वृद्ध पुरूष एक दूसरे के सहयोग से चलते जाते हैं, गिरते नहीं हैं उसी प्रकार वे भी चलते रहे। दृढ़ निश्चय करके अपने मार्ग में इधर-उधर भटके बिना आगे बढ़ते रहे। ज्यों ही रावण बीच में आया, राम सोच में पड़ गये कि इसके लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है। हमारे जीवन के बीच में अब कोई नहीं आ सकता, यदि कोई

आता है तो वह व्यवधान ही होगा और उस व्यवधान को दूर करना हमारा सर्वप्रथम कर्त्तव्य है।

रावण को मारने का इरादा नहीं किया राम ने। उन्होंने मात्र अपने प्रशस्त मार्ग में आने वाले व्यवधान को हटाने का प्रयास किया और सीता के पास जाने का प्रयास किया। सीता जी ने जिस संकल्प के साथ राम की ओर कदम बढ़ाया था उसकी रक्षा करना, समर्थन करना राम का परम धर्म था। राम का समर्थन करना सीता का परम धर्म था। उन दोनों ने अपने धर्म का अनुपालन किया। उन्होंने भोग या सांसारिकता का सहारा नहीं लिया बल्कि चैतन्य का सहारा लिया। विवाह पद्धति का अर्थ मोक्षमार्ग में परस्पर साथी बनना है। विवाह का अर्थ संसार मार्ग की सामग्री बनना नहीं है।

पाश्चात्य शहरों में होने वाले विवाह वास्तव में विवाह नहीं हैं। वहाँ पहले राग होता है और बाद में बंधन होता है। भारतीय संस्कृति में पहले बंधन होता है पीछे राग होता है और वह राग भी आत्मानुराग होता है। पहले सत् संकल्प दिये जाते हैं उनके साथ ही संबंध होता है अन्यथा नहीं।

जब तक राम और सीता का गृहस्थ धर्म चलता रहा तब तक उन्होंने एक-दूसरे के पूरक होने के नाते अपने जीवन को आगे बढ़ाया। अंत में अग्नि परीक्षा के उपरान्त सीता कहती हैं कि हमने अंतिम परीक्षा दे दी अब तो स्वयं का शोध करना है। शोध के लिए इस परीक्षा से पर्याप्त बोध मिल चुका है। बोध के उपरान्त शोध अनिवार्य है। एम.ए. तक विद्याध्यन के उपरान्त जैसे शोध प्रारंभ किया जाता है, ऐसा ही इस क्षेत्र में भी है। शोध से ही अनुभूति प्रारंभ होती है। बोध को समीचीन बनाने के उपरान्त अब टेक्स्ट बुक नहीं चाहिये, अब अनुभूति के लिए शोध आवश्यक है।

सीता जी के पास अब शोध की शक्ति आ गयी थी। वे राम से कहती है कि अब मुझमें इतनी शक्ति आ चुकी है कि आपकी आवश्यकता नहीं है। अब तीन लोक में जो भी पदार्थ बिखरे हुए हैं उनमें से किसी भी एक पदार्थ को चुनकर मैं आत्मा को प्राप्त कर सकती हूँ। अपने शोध का विषय बना सकती हूँ। अब राम, विश्राम! अब तुम्हारी आवश्यकता नहीं रही। अब स्वावलम्बी जीवन आ गया। विवाह की डोर अब छूट जायेगी।

सीता जी ने उसी समय पंचमुष्टि केशलुंचन कर लिया। आर्यिका माता बन गयी। चूंकि राम अभी शोध छात्र नहीं थे इसलिए सीता के चरणों में

प्रणिपात हो गये। सीता एक अबला होकर भी शोधछात्रा बन गयीं। अब वे विश्व में बिखरी अनन्त चैतन्य सत्ताओं के बारे में विचार करेंगी' अध्ययन, मनन और अनुभवन करेंगी। विवाह के माध्यम से मात्र राम में लीन रहकर यहाँ तक पहुँची, अब ऐसा साहस उद्‌भूत हो गया कि बिना राम के काम चल जायेगा।

राम-राम, श्याम-श्याम रटन्त से विश्राम,
रहे न 'काम' से काम, तब मिले आतम राम।

अब राम, राम न रहे सीता की दृष्टि में। अब उनकी दृष्टि में था आतमराम। अब काया में छिपे आतमराम को वह देखेंगी, उसी से संबंध रखेंगी। अब विश्व के साथ चैतन्य संबंध की यात्रा प्रारंभ हो गयी। राम तो मात्र काया का नाम था। आतमराम मात्र काया का नाम नहीं है। वह तो अन्तर्यामी चैतन्य सत्ता है। वह न पुरुष है, न स्त्री है, न वृद्ध है, न बालक है, न जवान है। वह देव भी नहीं, नारकी नहीं, तिर्यंच और मनुष्य भी नहीं, वह तो मात्र चैतन्य पिंड है। सीता अब अबला नहीं रहीं, सबला हो गयीं। अकेली चल पड़ीं मोक्षमार्ग पर। उनके चरणों में राम भी नतमस्तक थे।

अग्नि परीक्षा के उपरान्त राम के कहने पर भी सीता घर नहीं लौटी। अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण होकर वे राम से भी आगे निकल गयीं। राम ने बहुत कहा कि अभी मत जाओ। साथ हम भी चलेंगे। तब सीता ने कह दिया कि मैं अब नहीं रुक सकती, साथ भी नहीं रह सकती। आप अपना विषय अपनायें और मैं अपना विषय अपनाती हूँ। मैं जब विद्यार्थी थी तब तक ठीक था, अब मैं विद्यार्थी से ऊपर उठ चुकी हूँ। अब आपकी आवश्यकता नहीं रही, आपको धन्यवाद देती हूँ कि आपने एम. ए. तक यानी गृहस्थ जीवन में बोध होने तक मेरा साथ नहीं छोड़ा। अब मुझे दिशा मिल चुकी है, अब मैं अनाहत अपनी राह पर चल सकती हूँ। इस प्रकार स्त्री-पुरुष के भेद को पार करके वेद का उच्छेद करके वह अभेद की यात्रा पर चल पड़ीं। उसी दिन उनके लिए मोक्ष पुरुषार्थ की भूमिका बन गयी। यह काम पुरुषार्थ का सुफल उन्हें मिल गया। अब वे मोक्ष पुरुषार्थी थी, काम पुरुषार्थी नहीं।

राम भी कमजोर नहीं थे। एक दिन वे भी शोध छात्र बन गये। दिगम्बर दीक्षा ले ली और सीता जी से भी आगे बढ़ गये। देखो स्पर्धा ऐसी बातों में होनी चाहिये। आप लोग कमाने में, भौतिक सामग्री जुटाने में स्पर्धा करते हैं।

जिसका स्वयं पर नियंत्रण नहीं है, स्वयं के बारे में गहरा ज्ञान नहीं है तो मैं समझता हूँ कि भौतिक ज्ञान भी आपका सीमित है। मात्र बाहरी है। अंदर पड़ी हुई अनंत संपदा जो अनंत काल से लुप्त है छिपी हुई है, उसे खोजना चाहिये। पर आप सोये हुए हैं और वह सम्पदा नजर नहीं आ रही।

राम ने संकल्प ले लिया। मुनि बन गये। अब स्वयं पर अध्ययन प्रारंभ हो गया। अब राम की दृष्टि में कोई सीता नहीं रही, न कोई लक्ष्मण रहे। वे भी आतमराम में लीन हो गये। उन्हें भी काम-पुरुषार्थ का सुफल प्राप्त हो गया। वास्तव में, यदि काम-परुषार्थ भारतीय परम्परा के अनुरूप हों तो मोक्ष पुरूषार्थ की ओर दृष्टि जा सकती है। आपके भी कदम उस और उठ सकते हैं। विवाह तो आप सभी लोग कर लेते हैं लेकिन आपको मोक्ष की राह नहीं मिल पाती आपके कदम उस ओर नहीं उठ पाते। राम का संबंध भी वीतराग बनने के लिए है, यदि ऐसा विचार आ जाये तो जीवन सार्थक हो जाता है।

राम और सीता ने विवाह को अपनाया, उसे अच्छी तरह निभाया और अंत में राम तो मुक्ति का वरण कर चुके और आत्म आनंद का अनुभव कर रहे हैं। सीता जी भी सोलहवें स्वर्ग में विराजमान हैं। आगामी जीवन में वह भी गणधर परमेष्ठी बनेंगी और मुक्तिगामी होंगी।

आज पाश्चात्य समाज में विवाह के उपरान्त भी परस्पर विश्वास नहीं है। प्रेम-भाव नहीं है। एक-दूसरे की सुरक्षा का भाव नहीं रहा। जितना भौतिक सम्पदा से प्रेम है, उसकी सुरक्षा का भाव है उतना आत्मिक-सम्पदा से लगाव और उसकी सुरक्षा का भाव नहीं रहा। विवाह के उपरान्त भी विकास नहीं होता बल्कि विनाश ही हो रहा है। कारण एक ही है कि सभी शरीर में अटक जाते हैं, आत्मा तक नहीं पहुँचते। आत्मा से मिलन नहीं हो पाता। अभी कुछ लोग यहाँ मेरा परिचय दे रहे थे, पर वह मेरा परिचय कहाँ था। मेरा परिचय देने वाला तो वही है जो मेरे अंदर बैठा है, जहाँ मैं हूँ। आपकी दृष्टि भौतिक काया तक ही जा पाती है। आत्मा से परिचय नहीं हो पाता। मेरा सही परिचय यह है कि मैं चैतन्य पुंज हूँ जो इस भौतिक शरीर में बैठा हुआ है।

यह ऊपर जो अज्ञान दशा में कर्मफल चिपक गया है उसे हटाने में मैं लगा हूँ और चाहता हूँ कि हट जाये और साक्षात्कार हो जाये आतमराम का, परमात्मा का। आपके पास कैमरा है, एक्सरे होना चाहिये। कैमरे के माध्यम से ऊपर की शक्ल ही आ पाती है। एक्सरे के द्वारा अंतरंग आ जाता है। हमें

उस मंत्र को ग्रहण करना है जिसके माध्यम से अंदर जो तेजोमय आत्मा बैठी है वह पकड़ में आ जाये। इसके लिए अंतर्दृष्टि आवश्यक है।

जब राम ने मुनिदीक्षा धारण कर ली। तपस्या में लीन हो गये और इतनी अन्तर्दृष्टि बन गयी कि बाहर क्या हो रहा है, यह पता ही नहीं चला। तब प्रतीन्द्र के रूप में सीता का जीव सोचता है कि अरे! उन्होंने तो सीधा मोक्ष का रास्ता पा लिया, मुझे तो देव पर्याय में अभी रुकना पड़ा। सीता ने सोचा कि देखें राम डिगते हैं या नहीं। उसने डिगाने की कोशिश की, पर राम नहीं डिगे। यही है अन्तर्दृष्टि। इसी को कहते हैं ब्रह्मचर्य। अपनी आत्मा में रमण करना भी ब्रह्मचर्य है।

इस ब्रह्मचर्य के सामने विश्व का मस्तक भी झुक जाता है। इस दिव्य तत्व के सामने सांसारिक कोई भी चीज कीमती नहीं है। काम-पुरुषार्थ को आप मात्र भोग विलास मत मानें, वह भोग आत्मा के लिए है। वास्तविक भोग वही है जो चैतन्य के साथ हुआ करता है। एक बार अनन्त चैतन्य के साथ मिलन हो जाये तो जितनी शान्ति मिलेगी वह कही नहीं जा सकती। ध्यान में लीन होते समय कुछ अनुभूति के बिंदु मिल जाते हैं तो हम आनंद विभोर हो जाते हैं। तब उस अनन्त सिंधु में गीता लगाने वाले के सुख की कोई सीमा नहीं है उसका सुख असीम है। असीम है वह शान्ति, वह आनंद। हमारा सारा पुरुषार्थ उसे ही पाने का होना चाहिये।

मुनिराज पाँचो इन्द्रियों के लिये यथोचित विषय मिलने पर भी रागपूर्वक उनका भोग नहीं करते। 'ले तप बढ़ावन हेतु, नहीं तन पोसते, तज रसन को'। इसलिए वे उन्हीं पदार्थों के माध्यम से मोक्ष पुरुषार्थ की साधना करने में सफल हो जाते हैं। मुनिराज के द्वारा इन्द्रिय विषय आहार आदि के रूप में ग्रहण किये जाते हैं पर वे विषय-पोषण की दृष्टि से नहीं होते। शरीर का शोषण न हो और शरीर से काम लिया जा सके, यह उनकी दृष्टि रहती है।

पोषण और शोषण के बीच की धारा योगधारा है जिसमें शरीर से संबंध छूटता भी नहीं है और मात्र शरीर के साथ भी संबंध नहीं रहता किन्तु चैतन्य के साथ संबंध बना रहता है। आप लोग भी इस कामपुरुषार्थ से ऊपर उठकर मोक्ष पुरुषार्थ की ओर बढ़ें और अनन्त सुख की उपलब्धि करें, यही कामना है। मुझे जो यह थोड़ी सी ज्योति मिली है वह पूर्वाचार्यों से और साक्षात् पूज्य ज्ञानसागर जी महाराज से मिली है। हम पूर्वाचार्यों के उपकार को भुला नहीं सकते। विवेक-पूर्वक उनके उपकारों को देखें और अपना कर्तव्य पहचानें

कि हमें क्या संदेश मिला है और किसलिए मिला है। आत्म-उत्थान के लिए सारे उपदेश हैं।

कोई भी व्यक्ति जब स्वहित चाहता है तब आत्म-पुरुषार्थ के द्वारा अपने आत्मा में रमण करने लगता है तो उसका हित तो हो ही जाता है लेकिन उसके उपदेश से सभी का भी हित हो जाता है। वे सोचते हैं कि सभी संसारी जीवन भी मेरे जैसे दुखी हैं इनको भी रास्ता मिल जाए, इसी करुणा के वशीभूत होकर आचार्यों ने प्राणियों के कल्याण के लिए मार्ग सुझाया। भगवत् तुल्य महान् कुन्द कुन्द आचार्य ने करुणा करके महान् अध्यात्म साहित्य का सृजन किया और आज भौतिक चकाचौंध के युग में रहते हुए भी कुछ कदम आत्मा की ओर उठाये हैं। तो मैं समझता हूँ वे धन्य हैं। उनका ऋण हम पर है और हमारा यही परम कर्त्तव्य है कि उस दिशा में आगे बढ़कर हम भी अपनी उन्नति का मार्ग प्रशस्त करें। अपनी दिशा बदलें और सुख के भाजन बनें। इस परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखें ताकि आगे आने वालों को भी वह उपलब्ध हो सकें।

□□

निजात्म-रमण ही अहिंसा है

महावीर भगवान के निर्वाण के उपरान्त भरत क्षेत्र में तीर्थंकरों का अभाव हुआ। वह इस भरत क्षेत्र के प्राणियों का एक प्रकार से अभाग्य ही कहना चाहिये। भगवान के साक्षात् दर्शन और उनकी दिव्य ध्वनि को सुनने का सौभाग्य जब प्राप्त होता है तो संसार की असारता के बारे में सहज ही ज्ञान और विश्वास हो जाता है। आज जो आचार्य-परम्परा अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है और जो महान् पूर्वाचार्य हमारे लिए प्रेरणादायक हैं उनके माध्यम से यदि हम चाहें तो जिस और भगवान जा चुके हैं, पहुँच चुके हैं, उस ओर जाने का मार्ग प्रशस्त कर सकते हैं।

आचार्यों ने, जो संसार से ऊपर उठने की इच्छा रखते हैं उन्हें दिग्दर्शन कराया है, दिशाबोध दिया है, उसका लाभ लेना हमारे ऊपर निर्भर है। उन्होंने जीवन पर चिन्तन, मनन और मन्थन करके नवनीत के रूप में हमें जो ज्ञान दिया है उसमें अवगाहन करना, और आत्म तत्त्व को पहचानना, विषय-कषाय से युक्त संसारी प्राणी के लिए टेढ़ी खीर है। आसान नहीं है। पर फिर भी कुछ बातें आपके सामने रख रहा हूँ।

आचार्यों के साहित्य में अध्यात्म की ऐसी धारा बही है कि कोई भी ग्रंथ उठायें, कोई भी प्रसंग ले लें, हर गाथा, हर पद पर्याप्त है। उसमें वही रस, वही संवेदन और वही अनुभूति आज भी प्राप्त हो सकती है जो उन आचार्यों को प्राप्त हुई थी। पर उसे प्राप्त करने वाले विरले ही जीव हैं। उसे प्राप्त तो किया जा सकता है पर सभी प्राप्त कर लेंगे, यह नहीं कहा जा सकता। मात्र अहिंसा का सूत्र ले लें। महावीर भगवान ने अहिंसा की उपासना की, उनके पूर्व तेइस तीर्थंकरों ने भी और उनके पूर्व भी इस अहिंसा की उपासना की जाती रही। अहिंसा के अभाव में आत्मोपलब्धि संभव नहीं है।

विश्व का प्रत्येक व्यक्ति शान्ति चाहता है। जीवन जीना चाहता है। सुख की इच्छा रखता है और दुख से भयभीत है। दुख निवृत्ति के उपाय में अहर्निश प्रयत्नवान है लेकिन वास्तविक सुख क्या है इसकी जानकारी नहीं होने से तात्कालिक सुख, भौतिक सुख को पाने में लगा हुआ है। इसी में अनादिकाल खो चुका है। महावीर भगवान ने जो अहिंसा का उपदेश दिया है

वह अनंत सुख की इच्छा रखने वाले हम सभी के लिए दिया है। उस अहिंसा का दर्शन करना उसके, स्वरूप को समझना भी आज के व्यस्त जीवन में आसान नहीं है। यहाँ हजारों व्यक्ति विद्यमान हैं और सभी धर्म श्रवण कर रहे हैं। वास्तव में, श्रवण तो वही है जो जीवन को परिवर्तित कर दे।

प्रवचन सुनने के साथ-साथ आप के मन में ख्याल बना रहता है कि प्रवचन समाप्त हो और चलें। यह जो आकुलता है, यह जो अशान्ति है, यह अशांति ही आपको अहिंसा से दूर रखती है। आकुलता होना ही हिंसा है। दूसरों को पीड़ा देना भी हिंसा है लेकिन यह अधूरी परिभाषा है। इस हिंसा के त्याग से जो अहिंसा आती है वह भी अधूरी है। वास्तव में जब तक आत्मा से रागद्वेष परिणाम समाप्त नहीं होते तब तक अहिंसा प्रकट नहीं होती।

अहिंसा की परिभाषा के रूप में महावीर भगवान ने संदेश दिया है कि 'जीओ और जीने दो।' 'जीओ' पहले रखा और 'जीने दो' बाद में रखा है। जो ठीक से जीयेगा वही जीने देगा। जीना प्रथम है तो किस तरह जीना है यह भी सोचना होगा। वास्तविक जीना तो रागद्वेष से मुक्त होकर जीना है। यही अहिंसा की सर्वोत्तम उपलब्धि हैं। सुना है विदेशों में भारत की तुलना में हत्याएँ कम होती हैं लेकिन आत्म-हत्याएँ अधिक हुआ करती हैं। जो अधिक खतरनाक चीज है। स्वयं अपना जीना ही जिसे पसंद नहीं है, जो स्वयं के जीने को पसंद नहीं करता, जो स्वयं के जीवन के लिए सुरक्षा नहीं देता वह सबसे अधिक खतरनाक साबित होता है। उससे क्रूर और निर्दयी और कोई नहीं है। वह दुनिया में शान्ति देखना पसंद नहीं करेगा।

शान्ति के अनुभव के साथ जो जीवन है उसका महत्व नहीं जानना ही हिंसा का पोषण है। आकुल, विकल हो जाना ही हिंसा है। रात-दिन बेचैनी का अनुभव करना, यही हिंसा है। तब ऐसी स्थिति में जो भी मन, वचन काय की चेष्टाएँ होंगी उनका प्रभाव दूसरे पर भी पड़ेगा और फलस्वरूप द्रव्य-हिंसा बाह्य में घटित होगी। द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा, ये दो प्रकार की हिंसा हैं। द्रव्य, हिंसा में दूसरे की हिंसा हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है किन्तु भाव-हिंसा के माध्यम से अपनी आत्मा का विनाश अवश्य होता है और उसका प्रभाव भी पूरे विश्व पर पड़ता है। स्वयं को पीड़ा में डालने वाला यह न सोचे कि उसने मात्र अपना घात किया है, उसने आसपास सारे विश्व

को भी दूषित किया है।प्रत्येक धर्म में अहिंसा की उपासना पर जोर दिया गया है। किन्तु महावीर भगवान का संदेश अहिंसा को लेकर बहुत गहरा है। वे कहते हैं कि प्राण दूसरे के ही नहीं अपने भी हैं। हिंसा के द्वारा दूसरे के प्राणों का घात हो ही, ऐसा नहीं है पर अपने प्राणों का विघटन अवश्य होता है। दूसरे के प्राणों का विघटन बाद में होगा, पर हिंसा के भाव मात्र से अपने प्राणों का विघटन पहले होगा। अपने प्राणों का विघटन होना ही वस्तुत: हिंसा है। जो हिंसा का ऐसा सत्य-स्वरूप जानेगा वही अहिंसा को प्राप्त कर सकेगा।

'बिन जाने तैं दोष गुणन को कैसे तजिये गहिये'- गुण और दोष का सही-सही निर्णय जब तक हम नहीं कर पायेंगे तब तक गुणों का ग्रहण और दोषों का निवारण नहीं हो सकेगा। आज तक हम लोगों ने अहिंसा को चाहा तो है लेकिन वास्तव में आत्मा की सुरक्षा नहीं की है। आत्मा की सुरक्षा तब हो सकती है जब भावहिंसा से हमारा जीवन बिल्कुल निवृत्त हो जाये। भाव-हिंसा के हटते ही जो अहिंसा हमारे भीतर आयेगी उसकी, महक उसकी खुशबू-बाहर भीतर सब और बिखरने लगेगी।

जो व्यक्ति राग करता है या द्वेष करता है और अपनी आत्मा में आकुलता उत्पन्न कर लेता है वह व्यक्ति संसार के बंधन में बंध जाता है और निरंतर दुख पाता है। इतना ही नहीं, जो व्यक्ति स्वयं बंधन को प्राप्त करेगा और बंधन में पड़कर दुखी होगा, उसका प्रतिबिंब दूसरे पर पड़े बिना नहीं रहेगा, वह वातावरण को भी दुखमय बनायेगा। एक मछली कुएं में मर जावे तो उस सारे जल को गंदा बना देती है। जल को जीवन माना है तो एक प्रकार से जीने के लिए जो तत्व था जीवन था वही विकृत हो गया।

एक व्यक्ति रोता है तो वह दूसरे को भी रुलाता है। एक व्यक्ति हँसता है तो दूसरा भी हंसने लगता है। फूल को देखकर बच्चा बहुत देर तक रो नहीं सकता। फूल हाथ में आते ही वह रोता-रोता भी खिल जायेगा, हँसने लगेगा और सभी को हँसा देगा। हँसाये ही यह नियम नहीं है किंतु प्रभावित अवश्य करेगा। आप कह सकते हैं कि कोई अकेला रो रहा हो तो किसी दूसरे को क्या दिक्कत हो सकती है। किंतु आचार्य उमास्वामी कहते हैं कि शोक करना, आलस्य करना, दीनता अभिव्यक्त करना, सामने वाले व्यक्ति पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहते।

आप बैठकर शांति से दत्तचित होकर भोजन कर रहे हैं। किसी प्रकार

का विकारी भाव आपके मन में नहीं है। ऐसे समय में यदि आपके जीवन सामने कोई बहुत भूखा व्यक्ति रोटी मांगने गिड़गिड़ाता हुआ आ जाता है तो आप में परिवर्तन आये बिना नहीं रहेगा। उसका रोना आपके ऊपर प्रभाव डालता है। आप भी दुखी हो जाते हैं और यह असातावेदनीय कर्म के बंध के लिए कारण बन सकता है। इसलिए ऐसा मत समझिये कि हम राग कर रहे हैं, द्वेष कर रहे हैं तो अपने आप में तड़प रहे हैं, दूसरे के लिए क्या कर रहे हैं? हमारे भावों का दूसरे पर भी प्रभाव पड़ता है। हिंसा का संपादन कर्त्ता हमारा रागद्वेष परिणाम है। शारीरिक गुणों का घात करना द्रव्यहिंसा है और आध्यात्मिक गुणों का घात करना, उसमें व्यवधान डालना भावहिंसा है। 'स्व', 'पर' दोनों की हो सकती है।

गृहस्थाश्रम की बात है। माँ ने कहा अंगीठी के ऊपर दूध है भगौनी में। उसे नीचे उतार कर दो बर्तनों में निकाल लेना। एक बर्तन में दही जमाना है और एक मैं दूध ही रखना है। जो छोटा बर्तन है उसे आधा रखना उसमें दही जमाने के लिए सामग्री पड़ी है और दूसरे बर्तन में जितना दूध शेष रहे, रख देना। दोनों को पृथक्-पृथक् रखना। सारा काम तो कर लिया पर दोनों बर्तन पृथक् नहीं रखे। परिणाम यह निकाल कि प्रातःकाल दोनों में दही जम गया। एक में दही जमाने का साधन नहीं था फिर भी जम गया, वह दूसरे के संपर्क में जम गया।

जब जड़ पदार्थ दूध में संगति से परिवर्तन हो गया तो क्या चैतनद्रव्य में परिवर्तन नहीं होगा? परिवर्तन होगा और एक-दूसरे पर प्रभाव भी पड़ेगा। परिवर्तन प्रत्येक समय प्रत्येक द्रव्य में हो रहा है और उसका असर आसपास पड़ रहा है। हम इस रहस्य को समझ नहीं पाते। इसलिए आचार्यों ने कहा कि प्रमादी मत बनो। असावधान मत होओ। बुद्ध कहते हैं कि प्राणियों पर करुणा करो, यीशु कहते हैं कि प्राणियों की रक्षा करो और नानक आदि सभी कहते हैं कि दूसरे की रक्षा करो किंतु महावीर कहते हैं कि स्वयं बचो। दूसरा अपने आप बच जायेगा। दूसरे को बचाने जाओगे तो वह बचे ही यह अनिवार्य नहीं है लेकिन स्वयं रागद्वेष से बचोगे तो हिंसा संभव ही नहीं है। 'लिव एण्ड लेट लिव'- पहले तुम खुद जीओ जो खुद जीना चाहेगा वह दूसरे के लिए जीने में बाधा डाल ही नहीं सकता।

हमारे जीवन से दूसरे के लिए तभी तक खतरा है जब तक हम प्रमादी हैं, असावधान हैं। 'अप्रमत्तो भव' प्रमाद मत करो। एक क्षण भी प्रमाद मत

करो, अप्रमत्त दशा में लीन रहो। आत्मा में विचरण करना ही अप्रमत्त दशा का प्रतीक है। वहाँ राग नहीं, द्वेष नहीं इसलिए वहाँ पर हिंसा भी नहीं है। बंधन में वही बंधेगा जो राग द्वेष करेगा और अपनी आत्मा से बाहर दूर रहेगा। फिर चाहे वह किसी भी गति का प्राणी क्यों न हो। वह देव भी हो सकता है। वह तिर्यंच हो सकता है। वह नारकी हो सकता है। वह मनुष्य भी हो सकता है। मनुष्य में भी गृहस्थ हो सकता है या गृह-त्यागी भी हो सकता है। वह सन्त या ऋषि भी हो सकता है। जिस समय जीव रागद्वेष से युक्त होता है उस समय उससे हिंसा हुए बिना नहीं रहती।

देर-सबेर जब भी बढ़ें चौबीस घंटे अप्रमत्त अवस्था की ओर बढ़ें अप्रमत्त रहना प्रारंभ करे तभी कल्याण है। अहिंसा वहीं पल सकती है जहाँ प्रमाद के लिए कोई स्थान नहीं है। प्रमाद यानी आपे में न रहना। सबसे खतरनाक चीज है आपे में न रहना। आउट आफ कंट्रोल यानी अपने ऊपर नियंत्रण नहीं होना ही प्रमाद है। वैज्ञानिक विकास विदेशों में बहुत हो रहा है। किंतु व्यक्ति आपे में नहीं है इसलिए आत्म-हत्या की ओर जा रहा है। अपने आत्म-हित के प्रति लापरवाही भी प्रमाद है।

चिंता-सरोवर जहाँ वह डूब जाता, सद्ध्यान से स्खलित जो ऋषि कष्ट पाता।
तालाब से निकल बाहर मीन आता, होता दुखी, तड़पता मर शीघ्र जाता।

यह स्वभाव से बाहर आना ही अभिशाप का कारण बनता है। तालाब से मछली बाहर आ जाती है तो तड़पती है, दुखी होती है और मरण को प्राप्त हो जाती है। इसी प्रकार योगी भी क्यों न हो, भोगों की तो बात ही क्या, जिस समय वह सीमा अपनी उल्लंघन कर देता है अर्थात् आत्म-स्वभाव को छोड़कर प्रमाद में आ जाता है तो उसे भी कर्मबंध का दुख उठाना पड़ता है। बाहर आना ही हिंसा है और अंदर रहना ही अहिंसा है। अहिंसा की इतनी अमूल्य परिभाषा हमें अन्यत्र नहीं मिलती और जहाँ आकर सारे दर्शन रुक जाते हैं वहाँ से महावीर भगवान की अहिंसा की विजय पताका फहराना प्रारंभ हो जाती है। आत्म-विजय ही वास्तविक विजय है।

आज भी अहिंसा का अप्रत्यक्ष रूप से प्रयोग होता है न्यायालय में। वहाँ पर भी भाव-हिंसा का ध्यान रखा जाता है। भावहिंसा के आधार पर ही न्याय करते हैं। एक व्यक्ति ने निशाना लगाकर गोली चलायी, निशाना मात्र सीखने के लिए लगाया था। निशाना चूक गया और गोली जाकर लग गयी एक

व्यक्ति को और उसकी मृत्यु हो गयी। गोली मारने वाले व्यक्ति को पुलिस ने पकड़ लिया। उससे पूछा गया कि तुमने गोली चलायी? उसने कहा चलायी है किंतु मेरा अभिप्राय मारने का नहीं था। मैं निशाना सीख रहा था, निशाना चूक गया और गोली लग गयी। चूंकि उसका अभिप्राय खराब नहीं था इसलिए उसे छोड़ दिया गया।

दूसरा-एक व्यक्ति निशाना लगाकर किसी की हत्या करना चाहता था। वह गोली मारता है, गोली लगती नहीं और वह व्यक्ति बच जाता है और गोली मारने वाले को पुलिस पकड़ लेती है। पुलिस पूछती है कि तुमने गोली मारी, तो वह जवाब देता कि मारी तो है पर उसे गोली लगी कहाँ? पुलिस उसे जेल में बंद कर देती हैं। ऐसा क्यों? जीव हिंसा नहीं हुई इसके उपरान्त भी उसे जेल भेज दिया और जिससे जीव हिंसा हो गयी थी, उसे छोड़ दिया। यह इसलिए कि वहाँ पर भावहिंसा को देखा जा रहा है। न्याय में सत्य और असत्य का विश्लेषण भावों के ऊपर आधारित है।

हमारी दृष्टि भी भावों की तरफ होनी चाहिये। अपने आप के शरीरादि को ही आत्मा मान लेने से कि मैं शरीर हूँ, और शरीर ही मैं हूँ, हिंसा प्रारम्भ हो जाती है। यह अज्ञान और शरीर के प्रति राग ही हिंसा का कारण बनता है। हम स्वयं जीना सीखें। स्वयं तब जीया जाता है जब सारी बाह्य प्रवृति मिट जाती है। अप्रमत्त दशा आ जाती है। इस प्रकार जो स्वयं जीता है वह दूसरे को भी जीने में सहायक होता है। जिसके द्वारा मन-वचन-काय की चेष्टा नहीं हो रही है वह दूसरे के लिए किसी प्रकार की बाधा नहीं देता।

जो विस्फोट ऊपर से होता है वह उतना खतरनाक नहीं होता जितना गहराई में होने वाला विस्फोट होता है। आत्मा की गहराई में जो राग-प्रणाली, या द्वेष-प्रणाली उद्भूत हो जाती है वह अंदर से लेकर बाहर तक प्रभाव डालती है। उसका फैलाव सारे जगत में हो जाता है। जैन-दर्शन में एक उदाहरण भाव-हिंसा को लेकर आता है। समुद्र में जहाँ हजारों मछलियाँ रहती हैं उनमें सबसे बड़ी रोहू (राघव) मछली होती है जो मुँह खोल कर सो जाती है तो उसके मुँह में अनेक छोटी-मछलियाँ आती-जाती रहती हैं। जब कभी उसे भोजन की इच्छा होती है तो वह मुख बंद कर लेती है और भीतर अनेकों मछलियाँ उसका भोजन बन जाती है।

इस दृश्य को देखकर एक छोटी मछली जिसे तन्दुल मत्स्य बोलते हैं जो आकार में तन्दुल अर्थात चावल जितनी छोटी है वह सोचती है कि यह

रोहू मच्छ कितना पागल है। इसे इतना भी नहीं दिखता कि मुख में इतनी मछलियाँ आ-जा रही हैं तो मुख बंद कर लेना चाहिये। यदि इसके स्थान पर मैं होता तो लगातार मुख खोलता और बंद कर लेता, सभी को खा लेता। देखिये स्थिति इतनी गम्भीर है। छोटे से मत्स्य की हिंसा की वृत्ति कितनी है, चरम सीमा तक, वह अनन्त जीवों को खाने की लिप्सा रखता है। एक भी नहीं खापाता क्योंकि उतनी शक्ति नहीं है लेकिन भावों के माध्यम से खा रहा है निरंतर।

बाहर से खाना, भले ही नहीं दिखता लेकिन अभिप्राय कर लिया, संकल्प कर लिया, तो मन विकृत हो गया। वही हिंसा है। रोहू मच्छ जितनी आवश्यकता है उतना ही खाता है, शेष से कोई मतलब नहीं, कोई लिप्सा नहीं लेकिन तंदुल मच्छ एक भी मछली को नहीं खा पाता पर लिप्सा पूरी है। इसलिए वह सीधा नरक चला जाता है। सीधा सप्तम नरक। यह है भाव-हिंसा का प्रभाव।

आप भी इसे समझें कि मात्र अपने जीवन को द्रव्यहिंसा से ही निवृत करना पर्याप्त नहीं है। यदि आप अपने में नहीं हैं अर्थात आपके मन, वचन और आपकी चेष्टाएं अपने में नहीं है तो आपके द्वारा दूसरे को धक्का लगे बिना नहीं रह सकता। एक व्यक्ति कोई गलती करता है तो वह एकांत रूप से अपने आप ही नहीं करता उसमें दूसरे का भी हाथ रहता है। भावों का प्रभाव पड़ता है। दूसरे के मन को देखकर ईर्ष्या अथवा स्पर्धा करने में भी हिंसा का भाव उद्भूत होता है। जो राग द्वेष करता है वह स्वयं दुखी होता है और दूसरे को भी दुख का कारण बनता है। लेकिन जो वीतरागी है वह स्वयं सुखी रहता है और दूसरे को सुखी बनाने में कारण सिद्ध होता है।

आपका जीवन हिंसा से दूर हो और अहिंसामय बन जाये इसके लिए मेरा यही कहना है कि भाव-हिंसा से बचना चाहिये। मेरा कहना तभी सार्थक होगा जब आप स्वयं अहिंसा की ओर बढ़ने के लिए उत्साहित हों, रुचि लें। किसी भी क्षेत्र में उन्नति तभी संभव है जब उसमें अभिरुचि जागृत हो। आपके जीवन पर आपका अधिकार है पर अधिकार होते हुए भी कुछ प्रेरणा बाहर से ली जा सकती है। बाहर से तो सभी अहिंसा की प्राप्ति के लिए प्रयास दिखते हैं किंतु अंदर से भी स्वीकृति होना चाहिये। एक व्यक्ति जो अपने जीवन को सच्चाई पर आरूढ़ कर लेता है तो वह तो सुखी बन ही जाता है, साथ ही दूसरे के लिए भी सुखी बनने में सहायक बन जाता है। आप चाहें तो वह आसानी से कर सकते हैं।

अहिंसा मात्र प्रचार की वस्तु नहीं है और लेन-देन की चीज भी नहीं है, वह तो अनुभव की वस्तु है। कस्तूरी का प्रचार प्रसार करने की आवश्यकता नहीं होती, जो व्यक्ति चाहता है वह उसे सहज ही पहचान लेता है। महावीर भगवान ने अहिंसा की सत्यता को स्वयं जाना और अपने भीतर उसे प्रकट किया तभी वे भगवान बनें। उन्होंने प्राणी मात्र को कभी छोटा नहीं समझा, उन्होंने सभी को पूर्ण देखा है और जाना है और पूर्ण समझा है। संदेश दिया है कि प्रत्येक आत्मा में भगवान है किंतु एकमात्र हिंसा के प्रतिफल स्वरूप स्वयं भगवान के समान होकर भी हम भगवत्ता का अनुभव नहीं कर पा रहे हैं। जब तक रागद्वेष रूप हिंसा का भाव विद्यमान रहेगा तब तक सच्चे सुख की प्राप्ति संभव नहीं है। अपने भावों में अहिंसा के माध्यम से दूसरे का कल्याण हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता किंतु आत्मा का कल्याण अवश्य होता है। परोक्ष रूप से जो अहिंसक है वह दूसरे को पीड़ा नहीं पहुँचाता, यही दूसरे के कल्याण में उसका योगदान है। आचार्यों की वाणी है कि 'आदहिंदं कादव्वं, जदि सक्कइ परहिद व कादव्वं। आदहिद परहिदादो, आदहिदं सुट्ठु कादव्वं।' आत्म-हित सर्वप्रथम करना चाहिये। जितना बन सके उतना परहित भी करना चाहिये। लेकिन दोनों में अच्छा आत्म-हित ही है। जो आत्महित में लगा है उसके द्वारा कभी दूसरे का अहित हो नहीं सकता।

इस प्रकार 'स्व' और 'पर' का कल्याण अहिंसा पर ही आधारित हैं। अध्यात्म का रहस्य इतना ही है कि अपने को जानो, अपने को पहचानो, अपनी सुरक्षा करो, अपने में ही सब कुछ समाया है। पहले विश्व को भूलो और अपने को जानो, जब आत्मा को जान जाओगे तो विश्व स्वयं सामने प्रकट हो जाएगा। अहिंसा-धर्म के माध्यम से स्व-पर का कल्याण तभी संभव है जब हम इसे आचरण में लायें। अहिंसा के पथ पर चलना ही अहिंसा-धर्म का सच्चा प्रचार-प्रसार है। आज इसी की आवश्यकता है।

□□

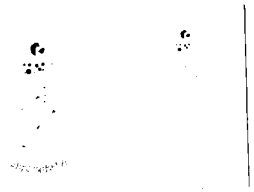

आत्म-लीनता ही ध्यान

भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् अंतिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु स्वामी हुए हैं और उनके शिष्य आचार्य कुन्दकुन्द हुए हैं, जिन्होंने संक्षेप में जीवन के उद्धार की सामग्री हम लोगों को दी है। हम लोगों का जीवन इतना छोटा सा है कि हम अपने विचारों के अनुरूप सारे कार्य नहीं कर सकते। जीवन छोटा होने के साथ ही साथ क्षणभंगुर भी है। यह बुलबुले के समान है। जब तक है, समझो है, इसके फूटने में देर नहीं लगती। ऐसी स्थिति में हम आत्मा का कल्याण करना चाहें तो कोई सीधा रास्ता ढूढ़ना परमावश्यक है। इसी बात को लेकर संसार के विश्लेषण के बारे में तो आचार्य कुन्दकुन्द का विशेष साहित्य नहीं मिलता किंतु जो कुछ मिला है वह अत्यंत संक्षिप्त है जिससे शीघ्रातिशीघ्र अपने प्रयोजन को प्राप्त किया जा सकता है।

समझाना बहुत समय लेता है पर प्रयोजनभूत तत्व को समझने में ज्यादा समय नहीं लगता। संसार में क्या-क्या है इसके बारे में यदि हम अध्ययन प्रारंभ करें तो वह छोटा सा जीवन यूँ ही समाप्त हो जायेगा। अथाह संसार समुद्र का पार नहीं है। उसमें से प्रयोजनभूत तत्व को अपना लें, उसी के माध्यम से सब काम हो जायेगा। प्रयोजन-भूत तो आत्मतत्त्व है। अत्यंत संघर्षमय इस जीवन में जहाँ अनादिकालीन संस्कार हमें झकझोर देते हैं और अपने आत्मतत्व से च्युत कराने में सहायक बन जाते हैं, इस स्थिति में भी अपने को मजबूती के साथ-साथ पथ पर आरूढ़ होने के लिए आचार्यों ने मार्ग खोला है।

जो संसार से ऊपर उठना चाहता है उसके लिए संवेग और निर्वेग-ये दो भाव अपेक्षित हैं। वैसे उपदेश चार प्रकार का होता है। पहला संवेग को प्राप्त कराने वाला, दूसरा निर्वेग को प्राप्त कराने वाला, तीसरा और चौथा आक्षेपणी और विक्षेपणी के रूप में पात्रों की योग्यता को देखकर दिया जाता है। सर्वप्रथम मोक्षमार्ग पर आरूढ़ कराने के लिए संवेग और निर्वेग का ही उपदेश देना चाहिये, ऐसा आचार्यों का हमारे लिए उपदेश है।

ठीक भी है, डॉक्टर के पास कोई स्वस्थ व्यक्ति चिकित्सा के लिए नहीं आता। रोगी ही जाता है, तो डॉक्टर को बहुत संभालकर उसकी चिकित्सा

करनी पड़ती है। सर्वप्रथम वह डॉक्टर, रोगी को और कुछ नहीं बताता कि क्या कैसा है। वह केवल यही कहता है कि यदि नियम से दवाई लोगे तो तुम्हारा रोग जल्दी ठीक हो जायेगा। वह और कुछ नहीं बताता, मात्र दवाई लेना सिखाता है। उस दवाई का क्या लक्षण है? क्या गुणधर्म है? इसमें कितना क्या मिला है? इसे कैसे तैयार किया गया है? किस फैक्ट्री में तैयार किया गया है। यह सब उस रोगी को बताने की आवश्यकता नहीं है।

इसी प्रकार संसारी प्राणी के सामने सर्वप्रथम विश्व का लेखा-जोखा या विभिन्न मत-मतान्तरों का वर्णन आवश्यक नहीं है। प्रयोजनभूत तत्व तो यह है कि किसे प्राप्त करना है और किसे छोड़ना है, यह ज्ञात हो जाये। ऐसा न हो कि हेय का ग्रहण हो जाये और उपादेय का विमोचन हो जाये। संवेग और निर्वेग के उपदेश द्वारा उसे उपादेय को ग्रहण करना और हेय को छोड़ना, पहले सिखाना आवश्यक है। आत्म-ज्ञान के लिए बाधक तत्वों का हम थोड़ा विचार करें तो ज्ञात होगा कि 'मोह' ही ज्ञान के लिए बाधक साबित होता है। 'कषाय-भाव' ही ज्ञान के लिए बाधक सिद्ध होता है। मोह के कारण ज्ञान मिथ्या बना हुआ है। इस बाधक तत्त्व से ज्ञान को पृथक् करने का प्रयास करना ही एक मात्र पुरुषार्थ हैं जो कि संवेग और निर्वेग के बल पर ही संभव है।

बाधक कारण को हटाये बिना कार्य की सिद्धि नहीं होती। कई बार, कई लोग प्रश्न करते हैं कि ध्यान के बारे में समझाइये। हम ध्यान लगाना चाहते हैं। हमारा ध्यान लगता ही नही, हम बहुत कोशिश करते हैं। हमारा उनसे कहना यह है कि कोई भी शिक्षा दी जाती है तो पहले शिक्षा पाने वाले शिक्षार्थी की आदतों को समझना आवश्यक है। कोई आदत ऐसी हो जो उसके लक्ष्य के विपरीत हो और वह उसके साथ ही लक्ष्य प्राप्ति चाहता हो तो कैसे संभव है? जैसे टैंक में पानी भरा जाता है और वह गंदा हो जाता है। साफ पानी डालने पर भी वह गंदा कैसे हो गया? कारण यही है कि टैंक की सफाई करना आवश्यक है। इसी प्रकार परिणामों में ध्यान के योग्य पर्याप्त निर्मलता आवश्यक है, घाव के ऊपर मात्र मरहम पट्टी लगाने से कुछ नहीं होता, घाव साफ करना भी आवश्यक है।

आपका ध्यान कहीं न कहीं तो लगा ही रहता है। हम कभी आत्म-ध्यान से विचलित हो सकते हैं किंतु आप लोग अपने संसार के ध्यान से कभी विचलित नहीं होते। आपको सांसारिक ध्यान का खूब अभ्यास है। आप लोगों

का जीवन ऐसा ध्यान लगाने में इतना अभ्यस्त हो गया है कि आप यहाँ सुन रहे हैं किंतु फिर भी आपका ध्यान वहाँ है जहाँ आपने लगाया हुआ है। शरीर यहाँ बैठा है पर संभव है कि मन कहीं और लगा हो। आपको ध्यान लगाना सीखने की आवश्यकता नहीं है। ध्यान को डायवर्ट करने के लिए प्रयास की जरूरत है। आप चाहें तो यह कर सकते हैं। जबर्दस्ती कराया नहीं जा सकता।

माँ जबर्दस्ती बच्चे को दूध पिलाती है, बुलाती है, नहीं आता तो पकड़ कर लाती है। इसके उपरांत भी वह बच्चा दूध पीने की मंजूरी नहीं देता तो दोनों हाथ पकड़कर गोद में ले लेती है और चम्मच से दूध पिलाना प्रारम्भ कर देती है। मुँह में दूध डाल देती है पर दूध को अंदर ले जाने का काम बच्चे का है दूध कदाचित् अंदर भी चला जाये और बालक की इच्छा न हो तो वह वमन कर देता है। इसी तरह ध्यान जबर्दस्ती सिखाने की चीज नहीं है। यह तो इच्छा से स्वयं सीखने की चीज है। आपने जो बहुत दिन से ध्यान सीख रखा है उसे छोड़ना, उसे मोड़ना सीखना परमावश्यक है। यदि डायवर्ट करना नहीं सीखा तो परमार्थ को पाना संभव नहीं है।

बहुत लगाते हैं आप ध्यान, उधर सांसारिक कामों के लिए। अस्सी साल के वृद्ध को भी यदि दुकान जाना हो तो कमर का दर्द ठीक हो जायेगा और यदि अध्यात्म के लिए ध्यान करने की बात आती है तो कमर-दर्द बढ़ जाता है। मंदिर आना है तो कह देते हैं कि अब तो ढलती उम्र है बैठा नहीं जाता, सुना नहीं जाता। दुकान पर टेलीफोन की आवाज सुन लेते हैं और तत्संबंधी निर्णय ले लेते हैं। यह क्या बात है? यह ध्यान की बात है कि सूक्ष्म स्वर भी सुनने में आ जाते हैं क्योंकि उसके पीछे रुचि है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में रुचि नहीं होने से ध्यान से बचने के लिए कोई बहाना ढूंढ लेते हैं। अंदर यदि ग्रहण का भाव नहीं है रुचि नहीं है, तो प्रयास व्यर्थ हो जाता है। बच्चा जैसे मुख से दूध पीकर मुख से ही वमन कर देता है, आप भी एक कान से सुनकर दूसरे से निकल देते हैं। आत्मा की बात नहीं रुचती। हजारों बातों का आपको ध्यान है पर सीधी-सीधी एक बात जो आत्म-कल्याण की है वह आपके ध्यान में नहीं रहती। ऐसे-ऐसे व्यक्ति भी हैं जो हस्ताक्षर नहीं कर पाते, अगूंठा लगाते हैं और करोड़पति हैं। अनेकों फैक्ट्रियों के मालिक हैं और अनेकों विद्वान पढ़े-लिखे लोग उनके अधीन काम करते हैं। सेठजी को प्रणाम करते हैं। एक अक्षर का भी ज्ञान नहीं फिर भी इतना काम चल सकता है। ऐसा ही अध्यात्म के क्षेत्र में यदि अपनी

आत्मा के प्रति रुचि है और संवेग और निर्वेग है तो कल्याण सहज संभव है। अधिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है।

आत्मा की ओर ध्यान कठिन नहीं है, संसार से ध्यान डायवर्ट करना बहुत कठिन है। जैसे एक नदी का प्रवाह बरसों से चलता है उसका रास्ता बन चुका है, उस ओर वह अनायास बहता रहता है किंतु उसको बिल्कुल विरुद्ध दिशा में मोड़ना हर व्यक्ति के द्वारा संभव नहीं है। जो बांध बनाकर नहरों के द्वारा रास्ता मोड़ देते हैं वे जानते हैं कि यह कितना कठिन काम है। अनेकों परीक्षण करने पड़ते हैं। सामग्री की मजबूती का ध्यान रखना पड़ता है। इसी तरह अनादि काल से आपका जो प्रवाह विषयों की ओर बह रहा है, आपका ज्ञान विषय-सामग्री को पकड़ने के लिए उत्सुक हैं, उसकी गति इतनी तीव्र है कि उसे मोड़ना तो मुश्किल है ही, उसके वेग में कमी लाना भी मुश्किल है। पंचेन्द्रिय के विषय जो यत्र-तत्र फैले हुए हैं, अतीत, अनागत और वर्तमान तीनों कालों की अपेक्षा जो इन्द्रिय मन का विषय बनते हैं उनसे बचना कैसे संभव है? तो आचार्यों ने उद्यम करने की प्रक्रियाएँ बतायी हैं। उसके माध्यम से हमें आगे बढ़ना चाहिये।

उद्यम किस प्रकार किया जाए, इसके लिए भी आचार्यों ने अपनी अनुभूति के माध्यम से लिखा है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने ध्यान को परमावश्यक बताया है, ध्यान के बिना उद्धार संभव नहीं है। धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान ये दोनों ध्यान मोक्ष के हेतु हैं। आर्तध्यान-रौद्रध्यान संसार के हेतु हैं। आप धर्म ध्यान का स्त्रोत खोलना चाहते हैं, उस ओर मुड़ना चाहते हैं तो पहले आर्तध्यान-रौद्रध्यान को छोड़ना होगा। उसमें कमी लाना होगा। उसके लिए निरंतर प्रयत्न करना होगा।

जैसे किसी एक व्यक्ति को वैद्य ने कहा कि तुम घी का प्रयोग करो, पुष्टि आयेगी। उस व्यक्ति ने आधा किलो घी खा लिया और बैठ गया। घी पचा नहीं, खराबी आ गयी। वैद्य को बुलाया गया। उसने बताया कि सिर्फ घी खाने से पुष्टि नहीं आती, घी को पचाने के लिए मेहनत करनी होगी, व्यायाम करना होगा, अभ्यास करना होगा। इसी प्रकार ध्यान लगाओ, ऐसा कहने पर ध्यान लगाने बैठ जाने से काम नहीं चलेगा। मन, वचन, काय को बार-बार विषय कषायों में जाने से रोकना पड़ेगा, उस ओर से मोड़ने का अभ्यास करना होगा। विषयों की ओर ध्यान न जाये, इस बात का ध्यान रखना होगा। तभी धर्मध्यान में प्रगाढ़ता आयेगी, तभी वह धर्मध्यान आगे जाकर शुक्लध्यान में परिवर्तित हो सकेगा।

एक बात और समझने की है। रावण ने सीता के अपहरण के पश्चात् राम से युद्ध के समय भगवान शान्तिनाथ के मंदिर में जाकर ध्यान लगाया, मंत्र जपे पर राम की मृत्यु की कामना के साथ। शब्द, आस्था, मुद्रा आदि सब ठीक थी किंतु राम की मृत्यु की कामना सहित वह ध्यान, सच्चा ध्यान नहीं माना जायेगा। रावण में सोलह दिन तक ध्यान किया बहुरूपणी विद्या की प्राप्ति के लिए। पद्मपुराण में उल्लेख है कि रावण विद्या सिद्ध करने में बहुत पारंगत था। वह विद्या सिद्ध करने बैठ जाता था तो कोई उसके ध्यान में विघ्न नहीं डाल पाता था और वह विद्या सिद्ध करके ही उठता था। क्या वह ध्यान माना जायेगा? बहुरूपिणी विद्या के लिए किया गया वह ध्यान आत्मानुभूति के लिए नहीं किया गया इसलिए उपयोगी नहीं है। आत्मानुभूति के लिए किया गया ध्यान तो अंतर्मुहूर्त में भी मुक्ति दिला देता है।

हम लोगों को अपने स्वरूप को देखने की रुचि हो जाए, हम अंतर्मुखी होते चले जायें तो बाहर कुछ भी होता रहे, पता ही नहीं चलेगा। टेलीफोन पर अनेकों आवाजों के बीच अपनी आवाज आप सुन लेते हैं, बाकी छोड़ देते हैं। नगाड़े के बीच बाँसुरी की आवाज चलती है तो जो संगीतप्रेमी हैं या संगीतकार हैं वह उसे पहचान लेते हैं। इसी प्रकार ध्यान की बात है। यदि एक घंटे तक ध्यान की बात आप ध्यान से सुन लें और अपनी रुचि जागृत कर लें तो ऐसा नहीं हो सकता कि धर्मध्यान न लगे। हम रुचि जागृत कर सकते हैं। ध्यान भी कर सकते हैं।

माँ, बच्चे की गोद में बिठाकर दूध पिलाती है और चुटकी बजाती जाती है। बीच में यदि चुटकी बजाना बंद कर देती है तो बच्चा दूध पीना बंद कर देता है। यदि माँ के ललाट पर थोड़ी सलवट पड़ जाती है तो वह हैरान निगाहों से देखने लगता है कि मामला क्या है? वह सब ध्यान से देखता है। वह समझ जाता है कि माँ डाँट लगा रही है या प्यार कर रही है। अर्थ क्या हुआ कि ध्यान तो सभी के पास है लेकिन धर्म-ध्यान नहीं है। मुक्ति के लिए ध्यान की, जितना एकाग्रता की आवश्यकता है उतनी ही तीव्रता सप्तम नरक में जाने के लिए भी आवश्यक है। एक छोर सप्तम नरक तक तो हम कई बार पहुँच गये होंगे किन्तु दूसरे छोर मोक्ष की ओर कभी नहीं पहुँच पाये। अभी तो ऐसा कह सकते हैं कि पंचमकाल है, उत्तम संहनन नहीं है, ठीक है। लेकिन जब चतुर्थकाल आता है उस समय तो जा सकते थे। नहीं गये अर्थात् पुरुषार्थ की कमी रही।

चतुर्थ काल की अपेक्षा भरतक्षेत्र और ऐरावत के मात्र दस क्षेत्र हैं लेकिन जो एक सौ साठ विदेह क्षेत्र हैं वहाँ तो सदैव चतुर्थकाल रहता है। कुल मिलाकर एक सौ सत्तर क्षेत्र हैं जहाँ एक साथ तीर्थंकर हो सकते हैं। काल भेद मात्र दस क्षेत्रों में है, शेष एक सौ साठ क्षेत्रों में भेद नहीं होता। वहाँ से मोक्ष का सीधा रास्ता है, साथ ही सप्तम नरक भी जाया जा सकता है, जिसकी रुचि जिस तरह की होती है। बच्चा भी धर्मध्यान व शुक्लध्यान के माध्यम से मुक्ति का द्वार खोल सकता है और अस्सी साल का वृद्ध भी आर्त रौद्र ध्यान के द्वारा सप्तम पृथ्वी का द्वार खोल लेता है।

मन, वचन, काय को रोककर रुचिपूर्वक किसी पदार्थ में लीन हो जाना ही ध्यान है। पंचेन्द्रिय के विषयों में लीन होना आर्त और रौद्र ध्यान है और आत्म-तत्व को उन्नत बनाने के लिए अहर्निश प्रयास करना, सब कुछ भूलकर उसी आत्म-तत्व में लीन रहना धर्मध्यान है। आप चाहें तो अभी यह संभाव्य हैं। यहीं पर बैठे-बैठे विषयों की ओर पीठ कर लें मन, को डायवर्ट कर लें तो धर्मध्यान हो सकता है। जयपुर आपके लिए भी है और जयपुर में मैं भी हूँ। मेरे ज्ञान ने भी जयपुर को विषय बनाया है और आपके ज्ञान ने भी बनाया है। दोनों अभी यहीं जयपुर में हैं। पर आपका संकल्प जयपुर में हमेशा रहने का है, मेरा कोई संकल्प ऐसा नहीं है। आपका संकल्प है इसलिए जयपुर छोड़कर कहीं जाने पर भी जयपुर भीतर रहा आता है।

यह आपको ज्ञात है कि एक न एक दिन जयपुर छूटेगा। जब जयपुर छूटना निश्चित है तो उससे स्वयं को जोड़कर बैठे रहना, जानबूझकर इसको पकड़ने का प्रयास करना यही रागभाव है। जब जयपुर छूटेगा- यह ज्ञान का विषय बना, तो फिर उसे अपना मानकर इससे चिपकना ठीक नहीं है, यही ज्ञान का प्रयोजन है। जयपुर में जहाँ आप रह रहे हैं उसे आप मान रहे हैं कि हमारा है लेकिन जयपुर हमारा, तुम्हारा किसी का नहीं है, वह जो कुछ है, वह है। उसका अस्तित्व पृथक् है, हमारा पृथक् है। अस्तित्व को जानना अपेक्षित है, प्रयोजन भूत है किंतु अस्तित्व को जानकर 'यह मेरा' 'ये तेरा' ऐसा मानना बाधक है प्रयोजनभूत नहीं है।

'पर' क्या है 'स्व' क्या चीज है यह जानना परमावश्यक है। 'स्व' को स्व-रूप में जानकर, 'पर' को पर-रूप में जानकर 'पर' का ग्रहण नहीं करना यही प्रयोजनभूत तत्व का ज्ञान है। उपादेय की प्राप्ति और हेय का विमोचन हो गया तो मोक्षमार्ग प्रारंभ हो गया। यदि 'स्व' का ग्रहण और 'पर' का

विमोचन नहीं होता, उसके प्रति जो राग है वह नहीं हटता तो कार्य सिद्धि भी नहीं होगी।

ज्ञानी भी वहीं रह रहा है। अज्ञानी भी वहीं रह रहा है। ज्ञानी के लिए भी वही पदार्थ है और अज्ञानी के लिए भी वही पदार्थ है। दोनों के बीच वही पदार्थ होते हुए भी ज्ञानी के लिए वैराग्य का कारण बन जाते हैं और अज्ञानी उन्हें लेकर रागद्वेष में पड़ जाता है। जिसको आप अपना मान रहे हो अभी उसी में चौबीस घंटे ध्यान लगा रहता है। जो वास्तव में अपना है उस ओर ध्यान है ही नहीं। आचार्य शुभचंद्र ने ज्ञानार्णव नामक ग्रंथ में आद्योपान्त ध्यान के विषय में ध्यान के पात्र, ध्यान के फल, ध्यान में बाधक और साधक तत्वों का प्ररूपण किया है। उसमें एक श्लोक के माध्यम से सद्ध्यान की परिभाषा, अर्थात् मोक्ष में हेतुभूत ध्यान की परिभाषा दी है। सद्ध्यानी वह माना जाता है जो वीतरागी हो। संवेग और निर्वेग भाव जिसमें भरपूर हो। लम्बा-चौड़ा ज्ञान हो तो ठीक है, नहीं हो तो भी अच्छा है क्योंकि ज्ञान भी उस समय ध्यान में समाप्त हो जायेगा। ध्यान के समय उसका उपयोग नहीं है, ध्यान से बाहर आते ही ज्ञान की कीमत है।

जो वीतरागी हैं वे दुनिया में जितने भी पदार्थ हैं उसमें से कोई पदार्थ ले लें और उसका चिंतन करें, बाधा नहीं है। बाधा तो रागद्वेष की है। रागी द्वेषी बन जायें तो ध्यान बिगड़ जाता है। रागी होकर यदि वीतरागी मुद्रा देखेंगे तो वहाँ भी राग का ही अनुभव होगा। वहाँ भी उस मूर्ति की कीमत आंकने लगेंगे। धातु की है या पाषाण की है। सफेद है, काली है। भाई! सफेद काला तो पाषाण है। भगवान तो वीतरागी हैं। वीतद्वेषी हैं। शरीरातीत हैं। चैतन्य पिंड हैं उपयोगवान हैं। जो वीतराग भाव से देखेगा वह पत्थर में भी वीतरागता देखेगा। राग में भी वीतरागता का अनुभव वीतरागी करता है और रागी वीतरागता में भी राग का अनुभव करता है। इसलिए रागी का ध्यान अशुभ है और वीतराग का ध्यान शुभ है।

अनादिकाल से उपयोग की धारा अशुभ की ओर बह रही है। उसे डायवर्ट करना है। उसे अपनी आत्मा की ओर मोड़ना है। उपयोग, उपयोग में लीन हो जाये, यही प्रयोजनभूत है। आप लोगों की रुचि सद्ध्यान में अभी नहीं है लेकिन आप चाहें तो रुचि उत्पन्न कर सकते हैं और सद्ध्यान के माध्यम से परमपद प्राप्त कर सकते हैं। मुक्ति का सोपान ध्यान है। □□

मूर्त से अमूर्त

वह ज्ञान जयवंत रहे जिस ज्ञान में तीन लोक और तीन लोक में विद्यमान विगत, अनागत-वर्तमान पर्यायों सहित समस्त पदार्थ प्रतिबिंबित हो रहे हैं। जिस प्रकार दर्पण के सामने जो भी पदार्थ आ जाता है, वह उसमें प्रतिबिंबित होता है, उसी प्रकार केवलज्ञान में तीन लोक का प्रतिबिंब अनायास आ जाता है। संसारी जीव के पास भी ज्ञान है किंतु उसमें सकल चराचर पदार्थ प्रतिबिंबित नहीं होते। ज्ञान होते हुए भी इतना भारी अंतर होने का एक ही कारण है कि संसारी जीव का ज्ञान आवरित है। कषाय की कालिमा से आविष्ट है। जैसे दर्पण है लेकिन उस पर कालिमा हो तो प्रतिबिंबित होने की सामर्थ्य होते हुए भी पदार्थ प्रतिबिंबित नहीं हो सकते; इसी प्रकार संसारी प्राणी का ज्ञान अपना सही कार्य नहीं कर पाता।

कई बार ऐसा होता है कि आप किसी व्यक्ति से कोई गूढ़ बात समझने जाते हैं और वह क्रोधित हो जाता है तो आप दोबारा नहीं पूछते। यदि कोई दूसरा उस समय पूछने जा रहा हो तो उसे भी आप रोक देते हैं और कहने में आ जाता है कि वह व्यक्ति आपे में नहीं है। कषाय से आवेष्ठित जो ज्ञान-विज्ञान है, वह हमें सही-सही कुछ नहीं बता सकेगा। कोई व्यक्ति बहुत दातार है, उदार है किंतु जिस समय वह किसी उलझन में फँसा हुआ हो उस समय उसके पास कोई भी दीनहीन जायेगा तो खाली हाथ लौटना पड़ेगा। कुछ पाना उस समय संभव नहीं है। ऐसे समय में यदि याचक उस दातार के संदर्भ में कहे कि कैसा दातार है, काहे का दातार है। तब अन्य लोग उसे समझाते हैं कि दाता तो वह है, पर आप उचित समय नहीं पहुँचे। आप उस समय पहुँचे जब वह उलझन में था। वह अपने में नहीं था। रणांगन में कोई दानवीर राजा दान नहीं कर सकता।

सही समय पर और सही क्षेत्र पर जाओ तभी दान मिलता है अन्यथा नहीं। अर्थ यह हुआ कि जब कोई अपने स्वभाव से च्युत रहता है उस समय उसका ज्ञान अपने लिए भी हानिकारक हो जाता है। उस समय जीव का 'उपयोग' लक्षण होते हुए भी सही-सही कार्य नहीं करता। दुख का मूल कारण यही है।

जीव उपयोगवान होकर भी, अमूर्त स्वभाव वाला होकर भी वर्तमान में उस स्थिति में नहीं है। कर्म जब बंधता है उस समय आत्मा किस रूप में रहती हैं? कई लोगों का ऐसा सोचना है कि कर्म, कर्म से बंधता है, आत्मा तो अमूर्त है। इसलिए आत्मा से तो कर्म बंधता नहीं है। अमूर्त का मूर्त से बंधन भी कैसे संभव है? इससे ज्ञात होता है कि अभी लोगों को आत्मा अमूर्त है या मूर्त, उस बारे में सही-सही ज्ञान नहीं है। कई लोग तो ऐसी धारणा बना चुके हैं कि हम तो अमूर्त हैं और कर्म, कर्म के साथ बंधन को प्राप्त हो रहा है। उदाहरण भी दिया जाता है जैसे गाय के गले में रस्सी। गाय, अपने आप में पृथक् है और रस्सी, रस्सी में बंधी है। किंतु यह उदाहरण सही-सही कर्मबंध को प्रस्तुत नहीं करता क्योंकि कर्म और आत्मा के बीच ऐसा संबंध नहीं है।

आचार्यों ने इसके समाधान में यह कहा है कि आत्मा वर्तमान में अमूर्त नहीं है। जीव जब तक वह संसार दशा में रहेगा, तब तक वह मूर्त रहेगा। मूर्तता की अनेक श्रेणियां हैं। आत्मा बहुत सूक्ष्म है, कर्म भी सूक्ष्म हैं क्योंकि देखने में नहीं आते। पर दोनों के बीच ऐसी रासायनिक प्रक्रिया हुई है कि कर्म मूर्त होकर भी आत्मा के साथ बंधे हैं। आत्मा के साथ जो कर्म का बंधन है वह क्षेत्रावगाह है। बंधे हुए जो कर्म हैं उनकी सत्ता अंदर है, उनके साथ कर्म का बंध नहीं होता और उदय में आये हुए कर्म के साथ भी बंध नहीं हुआ करता। बंध की प्रक्रिया आत्मा के उपयोग के साथ आत्मा के प्रदेशों के साथ जुड़ी हुई है क्योंकि उदय में आया हुआ कर्म फल देकर चला जाता है और सत्ता में जो कर्म हैं उनके साथ स्थिति अनुभाग आदि सभी पृथक् रूप से पूर्व में बंधे हैं, उनके साथ बंध नहीं होता। इतना अवश्य है कि सभी नये-पुराने कर्म अपना आत्मा से अलग अस्तित्व रखते हुए भी एक क्षेत्र में रह सकते हैं, रहते भी हैं।

इस तरह आत्मा की मूर्तता अलग प्रकार की है। मूर्त होने के कारण ही बंध निरंतर प्रत्येक समय हो रहा है। आत्मा, पुद्गल के समान रूप रस गंध स्पर्श गुण वाला नहीं है, फिर भी मूर्त है। अनादिकाल से वैभाविक परिणमन की अपेक्षा मूर्त है। इसके लिए एक उदाहरण है। शुद्ध पारा होता है, उसे आप हाथ से या चिमटी आदि किसी चीज से पकड़ नहीं सकते। उस पारे की यदि भस्म बना दी जाये तो वह सहज ही पकड़ में आने लगता है। अब वह पारा, पारा होते हुए भी एक तरह से पारा नहीं रहा, वह भस्म हो गया।

पारा अपना स्वभाव छोड़कर विकृत या विभाव रूप में परिणत हो गया। यह भस्म यदि खटाई का संयोग पा जाये तो पुनः पारे में परिणत हो जाती है। पारे की भस्म दवा के रूप में रोग के इलाज में काम आती है। लेकिन शुद्ध पारे का एक कण भी मृत्यु का कारण बन सकता है।

यहाँ शुद्ध पारे को जो कि पकड़ में नहीं आता, हम कथंचित् अमूर्त मान सकते हैं और पारे की भस्म जो कि पकड़ में आ जाती है उसे मूर्त मान सकते हैं। आत्मा की यही स्थिति है। आत्मा शुद्ध पारे के समान शुद्ध दशा को जब प्राप्त कर लेती है तब पकड़ में नहीं आती, उस समय वह अपने अमूर्त स्वभाव में स्थित है। लेकिन जब आत्मा पारे की भस्म के समान अशुद्ध दशा में रहती है, विकृत या वैभाविक दशा में रहती है तब वह मूर्त ही मानी जाती है। पकड़ में आ जाती है। इसलिए जो आत्मा को सर्वथा अमूर्त मानकर ऐसी धारणा बना लेते हैं कि कर्म, कर्म से बंधता है, उनकी यह धारणा गलत साबित होती है, आगम के विरूद्ध भी है।

आगम में करणानुयोग में लिखा है कि आत्मा से कर्म बंधता है। 'आत्म-कर्मणोः अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बंधः।' बंध की प्रक्रिया आत्मा और कर्म के बीच ही हुई है। दोनों के प्रदेश एकमेक हुए हैं। यह ठीक है कि आत्मा कर्म के साथ बंधकर भी अपने गुणधर्म को नहीं छोड़ती। आत्मा के साथ कर्मबंध होना वैभाविक आत्मदशा है, जिससे वह कर्म के माध्यम से पकड़ में आती रहती है। यदि कर्म के साथ कर्म का बंध होता, तो कर्म का फल आत्मा को नहीं मिलता। ध्यान रहे कर्म भोक्ता नहीं है, भोक्ता आत्मा है क्योंकि वह चेतन है। भोगने की क्रिया संवेदन पूर्वक ही हुआ करती है।

कर्म फल का जो संवेदन आत्मा करती है वह अमूर्त नहीं अपितु मूर्त होता है। संवेदन से तात्पर्य फल की अनुभूति से है। संवेदन का अर्थ मात्र जानना-देखना नहीं है। मात्र जानने-देखने रूप चेतना तो सिद्ध परमेष्ठी के होती है। यहाँ उसका सवाल नहीं है किन्तु फल की अनुभूति रूप संवेदना मूर्त अवस्था में ही होना संभव है। यही आत्मा का विपरीत परिणमन है। आत्मा का स्वभाव-परिणमन शुद्ध पारे के समान है और विभाव-परिणमन पारे की भस्म के समान है जो कि पकड़ में आ जाती है।

वर्तमान में आत्मा अमूर्त नहीं है मूर्त है किंतु अमूर्त बन सकता है। अमूर्त बनने की प्रक्रिया बहुत आसान है। जैसे पारे की भस्म की खटाई का योग मिल जाने से वह पुनः पारा बन जाती है उसी प्रकार आप लोगों को भी

वीतराग रूप खटाई का योग मिल जाये तो आप भी मूर्त से अमूर्त बन सकते हैं। जो अपने अमूर्त स्वभाव को प्राप्त करना चाहता है उसे वीतरागता का संयोग करना होगा।

कर्म का आत्मा के साथ संबंध बड़ा अद्भुत है। जिस समय यह संसारी प्राणी-एक गति से दूसरी गति में जाता है उस समय विग्रह गति में कार्मण-काययोग रहता है। उस समय आत्मा का कुछ जोर नहीं चलता, कर्म ही आत्मा को इस गति से उस गति में ले जाता है। यदि कर्म का मात्र कर्म से ही संयोग होता तो आत्मा को न ले जाकर कर्म को ही कर्म के साथ जाना चाहिये था। नरक कौन जाना चाहता है भैया। जाना तो कोई नहीं चाहता किन्तु नरकायु का बंध होने के उपरान्त जाना पड़ता है। कर्म के पास यह शक्ति है। यदि कर्म कर्म, के साथ बंधता और आत्मा से बिल्कुल पृथक् रहता तो आत्मा को चारों गतियाँ में नहीं ले जा सकता।

जब रस्सी को खींचते हैं तो गाय साथ में चली आती है। यदि रस्सी मात्र रस्सी से बंधी होती तो गाय पृथक् रही आती और खींचने पर केवल रस्सी खिंच पाती। लेकिन गाय नहीं भी जाना चाहे तो भी रस्सी से बंधी होने के कारण खिंची चली जाती है। रस्सी से रस्सी की गांठ लगी है किन्तु गाय खिंची चली जाती है। यह बंध की प्रक्रिया अनोखी प्रक्रिया है। ससांरी प्राणी बंध को नहीं चाहता लेकिन बंधन के साधन अपनाता चला जाता है, यही उसका सबसे बड़ा अपराध है। वीतरागता उसे इस अपराध से मुक्त कर सकती है। हम यदि रागद्वेष छोड़कर वीतराग अवस्था को प्राप्त कर लें तो हम अमूर्त बन जायेंगे, अपने आपे में आ जायेंगे।

अभी हमारा ज्ञान पूजनीय नहीं बल्कि वह मूर्त है। आचार्यों ने उस कैवल्य ज्योति को जयवंत कहा जिसमें तीन लोक के सारे पदार्थ प्रतिबिंबित होते हैं। ऐसा वह केवल ज्ञान किसी के अधीन नहीं है। अनंत उज्जवलता उसमें विद्यमान है। हमें उस ज्ञान को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये। बंध की प्रक्रिया को समझकर उससे मुक्त होने का उपाय करना चाहिये। बंध की प्रक्रिया रागद्वेष के माध्यम से चल रही है। वीतराग के माध्यम से ही इसका विमोचन होगा। लेकिन यह भी ध्यान रखना कि दूसरे का वीतराग भाव हमारे काम नहीं आयेगा। हमें उसे निमित्त बनाकर स्वयं वीतरागी बनना होगा। हम वीतराग भगवान के चरणों में पड़ जायें और कहें कि हे भगवान! थोड़ी कृपा कर दो, आपके पास रसायन है हमें थोड़ा दे दो, तो ऐसा संभव नहीं है।

पारसमणि के स्पर्श से लोहा, सोने में बदल जाता है। पारसमणि लोहे को सोना तो बना सकती है किन्तु पारसमणि नहीं बना सकती। लोहे के पास सोना बनने की योग्यता है और उसे पारसमणि का योग मिल जाये तो वह सोना बन जाता है। यदि योग्यता न हो तो स्पर्श का असर भी नहीं होगा। एक व्यक्ति अपने गुरु से प्राप्त पारसमणि को लोहे से स्पर्श कराता है किन्तु लोहा स्वर्ण नहीं बनता। वह वापिस आकर गुरु को उलाहना देता है कि आपने झूठ कहा था। यह पारसमणि नही है। लोहा, स्वर्ण नहीं बना। गुरु के कहा, झूठ नहीं है बेटा, बता कौन सा लोहा स्पर्श कराया तूने। शिष्य वह लोहा ले आया। गुरू ने वह लोहा देखा और कहा- बात ऐसी है कि यह पारसमणि तो सही है किन्तु लोहा सही नहीं है।

शुद्ध लोहा ही सोना बन सकता है। अशुद्ध, जंग खाया हुआ लोहा, या मिट्टी आदि की पर्त चढ़ा हुआ लोहा स्वर्ण नहीं बन सकता। पहले लोहे को शुद्ध बनाओ। भगवान शुद्ध हैं, हम अशुद्ध हैं। शुद्धत्व के योग्य भूमिका में ढले बिना उनका स्पर्श हमें शुद्ध नहीं बना सकेगा। यह ध्यान रहे कि हम जहाँ कहीं भी रहते हैं वह शुद्ध तत्व अर्थात् केवली भगवान हमारे पास प्रतिदिन तीन बार आया करते हैं। कर्म सिद्धांत के अनुसार छह सौ आठ जीव छह महीने आठ समय में मुक्ति को प्राप्त करते हैं। तो एक महीने में लगभग सौ जीव मोक्ष पा जाते हैं और एक दिन में लगभग कम से कम तीन जीव जाते होंगे और मुक्त होने से पहले केवली समुद्घात हो तो उस समय लोक में एक भी प्रदेश ऐसा नहीं रहता जिसमें केवली भगवान स्पर्श न करते हों।

केवलज्ञानी का स्पर्शन तीन लोक में फैल जाता है। उस तीन लोक में तो सभी लोग आ जाते हैं। हम सभी को भगवान एक ही दिन में तीन बार छू लेते हैं फिर भी हम अशुद्ध के अशुद्ध ही रहे आते हैं। किसी बार छह महीने का अंतराल पड़ जाता है तब उसकी पूर्ति शेष आठ समय में हो जाती है। परोक्ष रूप में यह सारी घटना होती रहती है लेकिन कर्म बंध में फंसा हुआ जो व्यक्ति है उसको इसका भान नहीं हो पाता। भगवान को पाना चाहो तो कहीं भागो मत, अपने पास ही रहो। लौकिक दृष्टि से प्रचलित सूक्ति है कि 'भगवान भी भक्त के वश में हैं।' उपयोग बदल जाये अर्थात दृष्टि में वीतरागता आ जाये तो भगवान को पाना आसान है।

जैसे दीपक जल रहा है जिस समय वह वायु में प्रत्याहत नहीं होता उस समय उसकी लौ बिल्कुल सीधी व सही होती है किन्तु जिस समय वह किसी कारणवश भभकने लगता है उस समय वह लौ, आपे में नहीं रहती। प्रकाश की मात्रा तब कम हो जाती है। दीपक का स्वभाव प्रकाश तो रहता है किन्तु उसमें विकार आ जाता है। उसी प्रकार संसारावस्था में जीव में ज्ञानदर्शनात्मक उपयोग तो रहता है लेकिन सही काम नहीं करता। भभकने वाला दीपक प्रकाश कम देता है। हमारे अंदर भी अपने क्षयोपशम के माध्यम से जो वीर्य प्राप्त होता है वह कषाय करने से भभकते दीपक के समान हो जाता है।

हम जब कषाय तीव्र करते हैं तो हमारी शक्ति का अपव्यय होता है। हमारी शक्ति हमारे ही द्वारा समाप्त हो जाती है, उसका सदुपयोग नहीं हो पाता और यह अनर्थ जीवन में प्रति समय हो रहा है। जो जीवन में प्रकाश हमें मिलना चाहिये था, जो कार्य होना चाहिये था वह नहीं हो पाता और जीवन यूं ही समाप्त हो जाता है। बंध की प्रक्रिया के उपरान्त हुई अपनी स्थिति को हमने बुद्धि पूर्वक अपना लिया है और उसी में आनंद का अनुभव मान रहे हैं। विचार तो करो, केवली भगवान का स्पर्श होने के उपरान्त भी हमें भान नहीं हो पा रहा।

यहाँ कोई व्यक्ति शंका कर सकता है कि जब आज भी केवली का स्पर्श हमें प्राप्त है तो आज भी तीर्थंकर प्रकृति का अर्जन हमें होना चाहिये। क्षायिक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होनी चाहिये। तो ध्यान रखना कि किसी गुण को प्राप्त करना चाहते हो तो गुण प्राप्ति के लिए गुणवान के निकट जाना पड़ता है। वे हमारे पास आ जायें, तो आ सकते हैं। लेकिन जब तक हम नहीं जायेंगे वह गुण प्राप्त भी नहीं होगा। जब हम क्षायिक सम्यग्दर्शन या तीर्थंकर प्रकृति का अर्जन करते हैं तब उसके लिए केवली या श्रुतकेवली के चरणों में चले जाना आवश्यक होता है। मेहमान को आप नियंत्रण दें तभी वह आता है, वैसे नहीं आता। आपको स्वयं जाना होगा उसके पास, उसके चरणों में बैठकर भावों को उज्ज्वल करना पड़ेगा।

जब भावों को पुरुषार्थ के माध्यम से उज्जवल करेंगे तब यह प्रक्रिया घट सकती है अन्यथा नहीं। आपके भावों को उज्जवल करने के लिए वे तीन लोक के नाथ आपके पास नहीं आते, वे तो समुद्घात की प्रक्रिया के माध्यम से अपने शेष कर्मों की स्थिति को समान बनाते हैं। इस कार्य को करने के उपरान्त वे तीसरे व चौथे शुक्ल ध्यान को अपना लेते हैं और मुक्ति पा लेते हैं। आप भी मुक्ति के भाजन हैं, इसमें कोई संदेह नहीं लेकिन उसे प्राप्त करने के लिए प्रयास निरन्तर करना होगा।

यदि बंध की प्रक्रिया का सही-सही अध्ययन आप कर लें तो ज्ञात होगा कि तेरहवें गुणस्थान में केवली भगवान भी अभी कर्मबंध की अपेक्षा मूर्त हैं।

अमूर्तत्व का अनुभव शुद्ध पर्याय के साथ होना संभव है। भगवान ही अर्हन्त अवस्था में मूर्त समझकर अमूर्त होने की प्रक्रिया अपनाते हैं और तीसरे व चौथे शुक्लध्यान के माध्यम से योग-निरोध करके सिद्धत्व को प्राप्त कर लेते हैं। ध्यान की आवश्यकता अमूर्त हो जाने के उपरान्त नहीं होती, अमूर्त होने के लिए अवश्य होती है। सिद्ध भगवान ध्यान नहीं करते, कृतकृत्य हो चुके हैं।

अत: संसारी दशा में यह मत समझो कि हम अमूर्त हैं। अभी हम मूर्त हैं लेकिन अमूर्त होने की शक्ति हममें विद्यमान है। जो व्यक्ति स्वयं को बंधन में मानता है वही बंधन से मुक्ति की प्रक्रिया अपनाता है। जिस समय रागद्वेष हम कर लेते हैं उसी समय आत्मा कर्म के बंधन में जकड़ जाता है। एक आत्मा के प्रदेशों पर अनन्तानन्त पुद्गल वर्गणाएं कर्म के रूप में आकर एक समय में चिपक रही हैं। इसके उपरान्त भी यदि कोई कहे कि हम मुक्त हैं, अमूर्त हैं तो यह आग्रह ठीक नहीं है। अनादिकाल से जो रागद्वेष की प्रक्रिया चल रही है जब तक वह नहीं रुकेगी तब तक कोई बंध से मुक्त नहीं हो सकता। इसलिये बंध की प्रक्रिया को रोकने का उपाय करना ही श्रेयस्कर है। उपाय सीधा सा है कि कर्म के उदय में हम शान्त रहें।

'मैंने किया विगत में कुछ पुण्य-पाप,
जो आ रहा उदय में स्वयमेव आप।
होगा न बंध तब लौ जबलौं न राग,
चिन्ता नहीं उदय से बन वीतराग'

यदि हम वीतरागता को अपना लें तो कर्मबंध की प्रक्रिया रुकने लगेगी। संवर और निर्जरा को प्राप्त करके मुक्ति के भाजन बन सकेंगे। अपने वर्तमान मूर्तपने को जानकर अमूर्त होने का उपाय अपनाना ही आत्म-कल्याण के लिए अनिवार्य है। एक बार शुद्ध पारे के समान हमारी आत्मा शुद्ध बन जाये, अमूर्त हो जाये तो अनन्त काल के लिए हम अमूर्तत्व का अनुभव कर सकते हैं। यही हमारा प्राप्तव्य है।

□□

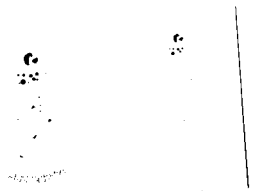

आत्मानुभूति ही समयसार

संसारी प्राणी को जो कि सुख का इच्छुक है उसे वीतराग, सर्वज्ञ, हितोपदेशी भगवान उपदेश देकर हित का मार्ग प्रशस्त करते हैं। वे भगवान जिनका हित हो चुका है फिर भी, जो हित चाहता है उसके लिए वे हित का मार्ग प्रशस्त करते हैं। कृतकृत्य होने के उपरांत भी वे सहारा देते हैं और हमें भी भगवान के रूप में देखना चाहते हैं। संसारी प्राणी सुख का भाजन तो बन सकता है किंतु अपनी पात्रता को भूला हुआ है, अपनी आत्म-शक्ति को भूला हुआ है इसलिए सुखी नहीं बन पाता। महावीर भगवान ने और उसके उपरांत होने वाले सभी आचार्यों ने इसी बात पर जोर दिया कि हम जो भी धार्मिक क्रियाएँ करें, यह सोचकर करें कि मैं भगवान हूँ। क्योंकि मैं भगवान बन सकता हूँ। सारी धार्मिक क्रियाएं यदि इस लक्ष्य को लेकर होती हैं तो श्रेयस्कर हैं। अन्यथा जिसे भगवान बनने की कल्पना तक नहीं है तो उसकी सारी की सारी धार्मिक क्रियाएँ सांसारिक ही कहलाएंगी। क्रियाएं अपने आपमें न सांसारिक हैं, न धार्मिक हैं, दृष्टि के माध्यम से ही वे धार्मिक हो जाती हैं।

चलना आवश्यक है किंतु दृष्टि बनाकर चलना है। जब तक दृष्टि नहीं बनती तब तक चलने का कोई औचित्य नहीं है। जैसे आप गाड़ी चला रहे हैं चलाते-चलाते उसे रोक देते हैं और रिवर्स में डाल देते हैं। गाड़ी चलती है किंतु उल्टी-दिशा में चलने लगती है। मुख भले ही सामने है पर वह लक्ष्य की ओर न जाकर विपरीत जा रही है। इसी प्रकार दृष्टि के अभाव में सारी की सारी क्रियाएँ रिवर्स गाड़ी के अनुरूप हो जाती हैं। दिखता है कि हम चल रहे हैं किंतु अभिप्राय यदि संसार की ओर हो, भगवान बनने का अभिप्राय न हो तो क्रियाएँ मोक्षमार्ग के अंतर्गत नहीं आ सकती। मोक्षमार्ग पर चलना तो तभी कहलायेगा जब हमारी मोक्ष पाने की इच्छा हो और कदम मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ें, पीछे की ओर न जायें। हमारे कदम अपनी शक्ति के अनुरूप उसी ओर बढ़ें, जिस ओर भगवान गये हैं, मुक्ति का पथ जिस ओर है। दो ही तो पथ हैं-एक मुक्ति का और दूसरा संसार का। वैसे मार्ग एक ही है, मुक्ति का लक्ष्य बनाकर सामने चलना मुक्ति का मार्ग है और पीछे संसार का लक्ष्य बनाकर मुड़ जाना यही संसार का मार्ग है।

जयपुर से आगरा की ओर जायेंगे तो आगरा का साइन बोर्ड मिलेगा और आगरा से जयपुर की ओर आयेंगे तो जयपुर का साइन बोर्ड मिलेगा, मील का पत्थर एक ही है, मार्ग भी एक ही है, दिशा बदल जाती है तो वही आगरा जाता है और वही जयपुर जाता है। इस ओर से जाते हैं तो आगरा लिखा मिलता है और उधर से आते हैं तो जयपुर लिखा मिलता है। 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग'- सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र यह मार्ग मोक्ष का है। इसके विपरीत मिथ्यादर्शन, ज्ञान और चारित्र यह संसार का मार्ग बन जाता है। चलने वाला व्यक्ति एक है और रास्ता भी एक ही है, दिशायें दो हैं। दिशा भी कोई चीज नहीं है, जब चलता है तब दिशा बनती है। जब गति प्रारम्भ हो जाती है तब दिशा-बोध की आवश्यकता होती है। जब चलना प्रारम्भ होता है तभी उल्टा मार्ग है या सीधा, इस तरह की बात ध्यान में रखना आवश्यक होता है। भगवान बनने के लिए जो भी आगम के अनुरूप आप क्रिया करेंगे वह सब मोक्षमार्ग बन जायेगा। मोक्षमार्ग पर क्रम से जब हम कदम बढ़ायेंगे तो अवश्य सफलता मिलती चली जायेगी। सफलता क्रम के अनुरूप चलने से मिलती है और क्रम से मिलती है।

सम्यदर्शन-सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र तीनों मिलकर मोक्ष का मार्ग बनता है। यह हम सुनते हैं और सुनाते हैं। किंतु उस ओर हमारा जीवन ढलता नहीं है इसलिए अनुभूति नहीं हो पाती। ज्ञान से भी अधिक महत्व अनुभूति को आचार्यों ने दिया है। अनुभूति के साथ ज्ञान तो रहता ही है। ज्ञान पहले हो और अनुभूति बाद में हो ऐसा भी कोई नियम नहीं है। ज्ञान जहाँ हो वहाँ अनुभूति हो ही यह नियम नहीं है लेकिन जिस समय अनुभूति होगी उस समय ज्ञान अवश्य होगा। लौकिक दृष्टि से समझने के लिए जैसे कोई डॉक्टर एम.बी.बी.एस. हो जाता है तो भी उपाधि मात्र से डॉक्टर नहीं कहलाता। उसे प्रेक्टिस करना भी अनिवार्य होता है। जो ज्ञान के माध्यम से परोक्ष रूप से जाना था उसे प्रेक्टिस के दौरान प्रत्यक्ष रूप से अनुभव करना होता है। एक दो साल प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) लेनी पड़ती है। तभी रोगी की चिकित्सा करने की योग्यता आती है। मोक्षमार्ग में भी अनुभूति का महत्व है। ज्ञान के साथ अनुभूति होना भी आवश्यक है।

हमने ज्ञान किस लिए प्राप्त किया? तो कहना होगा कि उस वस्तु को जानने के लिए, उस आत्म-तत्व की अनुभूति के लिए किया। जब ज्ञान के माध्यम से उस आत्मा की अनुभूति की ओर कदम बढ़ जाते हैं तो वही

मोक्षमार्ग बन जाता है, अन्यथा उस ज्ञान का कोई मूल्य नहीं रहता। अनुभूति भी रागानुरूप हो रही है या वीतरागानुरूप हो रही है यह भी देखना आवश्यक है क्योंकि परिणाम उसी के अनुरूप मिलने वाला है। मोक्षमार्ग की अनुभूति, वीतरागमार्ग की अनुभूति तो तभी होगी जब जैसा हमने उस मार्ग के बारे में सुना, देखा, जाना है, श्रद्धान और ज्ञान किया है उसको वैसा ही अनुभव में लाने का पुरुषार्थ करेंगे। जानने के लिये उतना पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता जितना कि अनुभूति करने के लिये आवश्यक है। अनुभूति बिना पुरुषार्थ के नहीं होती।

बैठे-बैठे जाना जा सकता है किंतु बैठे-बैठे चला नहीं जा सकता। चलते समय देखा भी जाता है और जाना भी जाता है। मैं सदैव कहता हूँ देखभाल कर चलना। जीवन में जब भी अनुभूति होती है वह इन तीनों की (देख+भाल+चलना=दर्शन+ज्ञान+चारित्र) समष्टि के साथ ही होती है। रागानुभव के साथ ज्ञान कितना भी हो उससे शान्ति, सुख आनंद जो मिलना चाहिये वह नहीं मिल पाता है। 'सो इंद्र नाग नरेंद्र वा अहमिंद्र के नाहीं कहयो'- वीतरागता के साथ जो आनंद है वह चाहे इंद्र हो, नागेंद्र हो नरेंद्र अर्थात् चक्रवर्ती हो या अहमिंद्र (जो नियम से सम्यग्दृष्टि होते हैं) भी क्यों न हो उसे प्राप्त नहीं हो सकता। क्योंकि ये सारे के सारे असंयमी हैं। संयम के साथ वीतरागता के साथ जो आत्मा की अनुभूति है वह एक प्रकार से शुद्ध परिणति है।

जो व्यक्ति भगवान बनना चाहता है उसे सर्वप्रथम भगवान के दर्शन करने होंगे, उसके माध्यम से बोध प्राप्त करना होगा, फिर उसे स्वयं के अनुभव में लाने का प्रयास करना होगा। मैं भगवान बन सकता हूँ- इस प्रकार का जो विचार उठेगा वह भगवान को देखे बिना नहीं उठेगा। इसलिए पहले भगवान का दर्शन आवश्यक है। भगवान के दर्शन से भावना प्रबल हो जाती है कि मुझे भी भगवान बनना है। पर इतने मात्र से कोई भगवान नहीं बनता। आगे की प्रक्रिया भी अपनानी पड़ेगी। आंखों से देखा जाता है, पाया नहीं जाता। पाने के लिए तो स्वयं वीतराग मार्ग पर चलना होगा, संयम धारण करना होगा, उसके उपरांत अपने आप में लीनता आयेगी। अनुभूति तभी होगी। तभी परमात्म स्वरूप की उपलब्धि होगी।

सभी संसारी जीवों की जो अनुभूति है वह सामान्य रूप से रागानुभूति है। उस अनुभूति की हम बात नहीं कर रहे किंतु मोक्षमार्ग में होने वाली वीतराग अनुभूति की बात यहाँ है। आत्मा के विकास के लिए स्वसंवेदन की आवश्यकता है पर वीतराग स्वसंवेदन की आवश्यकता है। धीरे-धीरे अपनी

दृष्टि को, जिन-जिन पदार्थों को लेकर-राग द्वेष उत्पन्न हो रहे हैं उन पदार्थों से हटाते चले जायें और दृष्टि को 'स्व' की ओर मोड़ते चले जायें तो वीतरागता आने में देर नहीं लगेगी। जिन पदार्थों के सम्पर्क से हमारा मन राग में जाता है, हमारा ज्ञान राग का अनुभव करना प्रारंभ कर देता है उन पदार्थों से अलगाव रखें और ज्ञान की शुद्धि करना प्रारम्भ कर दें। धीरे-धीरे 'पर' से हटने के कारण आप अपनी ओर आ जायेंगे। ऐसा कोई शार्टकट नहीं है जिसके माध्यम से 'पर' के साथ संबंध रखते हुए भी हम आत्माअनुभूति तक पहुँच जाये। रास्ता एक ही है, दिशा बदलनी होगी। राग की सामग्री से उसे हटाकर वीतरागता की ओर आना होगा।

एक सेठजी थे। भगवान के अनन्य भक्त। एक दिन वे गजानन-गणेश की प्रतिमा लेकर आये और खूब धूमधाम से पूजा करना प्रारम्भ कर दिया। गजानन को मोदक बहुत प्रिय होते हैं इसलिए एक थाली में मोदक सजाकर नैवेद्य के रूप में रखे। सेठजी प्रतिमा के सामने प्रणिपात हुए, माला फेरी, उसकी आरती की। फिर वहीं बैठे-बैठे उस प्रतिमा को निहारने लगे। उसी बीच एक चूहा आया और उस थाली में से एक मोदक लेकर चला गया। सेठजी के मन में विचार आया कि देखो, भगवान का स्वरूप बताते हुए कहा है कि जो सबसे बड़ा है वह भगवान है और वह सर्वशक्तिमान है। ये गजानन तो भगवान नहीं दिखते हैं। यदि ये भगवान होते तो इस चूहे का अवश्य ही प्रतिकार करते। एक अदना सा चूहा इनका मोदक उठा ले गया और वे कुछ न बोले। उसे हटाने की सामर्थ्य ही नहीं है इनमें। हो सकता है कि चूहा, भगवान से बड़ा हो, मेरे समझने में कहीं भूल हो गयी है। उस दिन से सेठजी ने चूहे की पूजा प्रारम्भ कर दी।

दो तीन दिन के उपरांत एक दिन चूहा जब बाहर आया तो उसे बिल्ली पकड़ ले गई। ओ हो! अब अनुभव होता जा रहा है मुझे, सेठ जी ने सोचा मैं अब अनुभव की ओर बढ़ता जा रहा हूँ। जैसे-जैसे सेठ जी का अनुभव बढ़ता गया उनका आराध्य भी बदलता गया। अब बिल्ली की पूजा में लीन हो गये। सबसे बड़ी यही है। जिस चूहे को गजानन नहीं पकड़ सके उस चूहे को इसने पकड़ लिया। यही सबसे बड़ी उपास्य है। सात-आठ दिन व्यतीत हो गये। बिल्ली का स्वभाव होता है कि कितना भी अच्छा खिला पिला दो वह चोरी अवश्य करेगी। एक दिन अंगीठी के ऊपर दूध की भगौनी रखी थी, बिल्ली चोरी से दूध पीने लगी। सेठानी ने देख लिया और

क्रोध में आकर उसने बिल्ली की पीठ पर एक लाठी मार दी, बिल्ली मर गई। सेठजी को जब सारी घटना मालूम पड़ी तो पहले तो खेद हुआ लेकिन तुरंत विचार आया कि जो मर गया वह कमजोर है। वह भगवान नहीं हो सकता। लगता है सेठानी बड़ी है। उसने गजब कर दिया। गजानन चूहे से डर गये, चूहा बिल्ली की पकड़ में आ गया और अब बिल्ली सेठानी के हाथों समाप्त हो गयीं।

सेठजी उसके चरणों में बैठ गये। अब सेठानी की पूजा प्रारंभ हो गयी। अनुभव धीरे-धीरे बढ़ रहा है। एक दिन प्रातः सेठजी ने सेठानी से कहा कि आज हमें दुकान में काम अधिक है। हम साढ़े दस बजे खाना खायेंगे, खाना तैयार हो जाना चाहिये। सेठानी ने कहा, ठीक है। पर प्रतिदिन पूजा होने के कारण सेठानी प्रमादी हो गई थी, समय पर रसोई नहीं बन पायी। जब सेठजी आये तो बोली-आइये, अभी तैयार हो जाती है। सेठजी क्रोधित हो उठे और सेठानी पर वार कर दिया'। सेठानी मूर्छित हो गयी 'जब होश आया तब सेठजी सोच में पड़ गये कि अभी तक तो मैं सेठानी को सबसे बड़ा समझ रहा था किंतु अब पता चला कि मैं ही बड़ा हूँ। अब मुझे अनुभव हो गया कि मुझ से बड़ा कोई भगवान नहीं है और वह अपने आपमें लीन हो गये। आप सारी बात समझ गये होंगे। यह तो मात्र कहानी है।

इससे आशय यही निकला कि 'स्व' की ओर आना श्रेयस्कर है। स्व की ओर आने का रास्ता मिल सकता है तो सच्चे देव, गुरु शास्त्र से ही मिल सकता है, अन्य किसी से नहीं मिल सकता है। इसलिए उनको बड़ा मानना है और उनका सहारा तब तक लेना है जब तक कि हम अपने आप में लीन न हो जायें। भगवान का दर्शन और भगवान की पूजन, भगवान बनने के लिए करना है। भगवान की पूजा श्रीमान बनने के लिए नहीं है। भगवत् पद की उपलब्धि दृष्टिकोण रखकर नहीं हो सकती। दृष्टि में परमार्थ होना चाहिये। हम जैसे-जैसे परमार्थ भूत क्रियाओं के माध्यम से रागद्वेष को कम करते चले जायेंगे, वैसे-वैसे अपनी आत्मा के पास पहुँचते जायेंगे। यह प्रक्रिया ऐसी ही है इसके बिना कोई भगवान नहीं बन सकता।

देवगुरुशास्त्र के माध्यम से जिस व्यक्ति ने अपने आपके जीवन को वीतरागता की ओर मोड़ लिया, वीतराग केंद्र की ओर मोड़ लिया वह अवश्य एक दिन आत्मा में विराम पायेगा। किंतु यदि देवगुरुशास्त्र के माध्यम से जो जीवन में बाहरी उपलब्धि की बांछा रखता हो तो उसे वही चीज मिल

जायेगी, आत्मोपलब्धि नहीं होगी। मुझे, एक बार एक व्यक्ति ने आकर कहा कि ''महाराज, 'हमने अपने जीवन में एक सौ बीस बार समयसार का अवलोकन कर लिया। कंठस्थ हो गया मुझे।' अब उनसे मैं क्या कहता? मन में विचार आया कि कहूँ आपने मात्र कंठस्थ कर लिया है और मैंने हृदयस्थ कर लिया है। आपने उसे शिरोङ्गम करके अपने मस्तिष्क में स्थान दिया है। आपको आनंद आया या नहीं पर हमारे आनन्द का पार नहीं है। बंधुओ। आत्मानुभूति ही समयसार है। मात्र जानना समयसार नहीं है।

समयसार का अर्थ है 'समीचीन रूपेण अयतिगच्छति व्याप्नोति जानाति परिणमति स्वकीयान् शुद्धगुणपर्यायान् य:स: समय:' - अर्थात् जो समीचीन रूप से अपने शुद्ध गुण पर्यायों की अनुभूति करता है, उनको जानता है उनको पहचानता है, उनमें व्याप्त होकर रहता है उसी समय जीवन बना लेता है वह है 'समय' और उस 'समय' का जो सार है वह समयसार। ऐसे समयसार के साथ व्याख्यान का कोई संबंध नहीं, वहाँ तो मात्र एक आत्मतत्व शेष रह जाता है। ''एक: अहं खलु शुद्धात्मा''- एक मैं स्वयं शुद्धात्मा हूँ। ऐसा कुन्दकुन्दाचार्य ने लिखा है। ताश के खेल में बादशाह से भी अधिक महत्व रहता है इक्के का, इसी प्रकार एक अपने आपमें महत्वपूर्ण है और वह है निज शुद्धात्मा।

अपनी ओर आने का रास्ता बताने वाले देव-गुरु-शास्त्र हैं। सच्चे देव के माध्यम से शुद्धात्मा का भान होता है। गुरु के माध्यम से वीतरागता की ओर दृष्टि जाती है, शुद्धत्व की प्रतीति होती है और गुरुओं के माध्यम से प्राप्त जो जिनवाणी है उसमें कहीं भी रागद्वेष का कोई स्थान नहीं रहता, उसके प्रत्येक अक्षर से वीतरागता मुखरित होती है। इस तरह इन तीनों के द्वारा वीतरागता का बोध होता है, वीतरागता को हमें जीवन का केंद्र बनाना चाहिये।

एक व्यक्ति ने कहा कि महाराज इतनी चर्चा आदि हम सुनते हैं तो कुछ न कुछ अंश में हमें भी वीतरागी मानना चाहिये। मैंने कहा कि भइया आपकी वीतरागता दूसरे तरह की है, आप ऐसे वीतरागी हैं कि आपका आत्मा के प्रति राग नहीं है। आपकी अपेक्षा में रागी हूँ क्योंकि मेरा आत्मा के प्रति राग है। लेकिन अपनी आत्मा के प्रति उपेक्षा का यह परिणाम है कि जीवन में आत्म-संतोष नहीं है। सारा अनुभव रागद्वेष का है, रागद्वेष युक्त अशुद्ध पर्याय का है। भगवान की देशना तो यह है कि सभी के पास भगवत्ता विद्यमान है किंतु अव्यक्त रूप से है, शक्ति रूप से है, व्यक्त रूप में नहीं है। जो भीतर है उसका उद्घाटन करना है, उसी के लिए मोक्षमार्ग की देशना है।

जिसे एक बार 'समय' की अनुभूति हो गयी क्या वह अपने समय को दुनियादारी में व्यर्थ खर्च करेगा। वह समय का अपव्यय कभी नहीं करेगा। जिस व्यक्ति को आत्मनिधि मिल गयी, क्या वह दसबीस रुपये की चोरी करेगा। यदि करता है तो समझना अभी समयसार कंठस्थ हुआ है, जीवन में नहीं आया है। एक वैद्यजी के पास एक रोगी आया और शीघ्र रोग मुक्त हो जाऊँ ऐसी दवा मांगी। वैद्यजी ने परचे पर दवाई लिख दी और कहा कि उसे दूध में मिलाकर पी लेना। रोगी घर आया और दूध में उस पर्चे को घोलकर पी गया। दूसरे दिन जब आराम नहीं लगा तो वैद्यजी से शिकायत की कि दवा का असर नहीं हुआ। वैद्यजी ने कहा ऐसा हो नहीं सकता, औषधि एक दिन में ही रोग ठीक करने वाली थी। बताओ कौन सी दुकान से दवा ले गये थे। रोगी ने कहा आपने जो कागज दिया था वही तो थी औषधि। हमने उसी को घोलकर पी लिया।

भइया! यही हम कर रहे हैं। कोई ग्रंथ औषधि थोड़े ही है। ग्रंथ में जो औषधि लिखी है उसे खोजना होगा। उसे प्राप्त करके उसका सेवन करना होगा। तभी अनादिकालीन जन्म-जरा-मरण का रोग नष्ट होगा। वीतरागता ही औषधि है, उसके सेवन से उसे जीवन में अंगीकार करने से ही हम जन्म-मृत्यु के पार होंगे। आत्मा की अनुभूति कर सकेंगे। आप लोगों के लिए मंदिर वही है, देव गुरूशास्त्र भी वही है, सब कुछ है किंतु इसके उपरान्त भी आपकी गति उस ओर नहीं हो रही है उससे विपरीत हो रही है। जैसे तेली का बैल घूमकर वहीं आ जाता है। इसी प्रकार आपका जीवन व्यतीत हो रहा है। बाह्य सामग्री को लेकर आप स्वयं को बड़े मान रहे हैं किंतु खड़े वहीं पर हैं। आत्मानुभूति की ओर कदम बढ़ पा रहे हैं। जो जवान हैं या जो प्रौढ़ हैं उनमें कोई परिवर्तन नहीं आता तो कोई बात नहीं किंतु जो वृद्ध हैं उनमें भी कोई अन्तर नहीं आ रहा। वृद्धत्व के उपरान्त भी वृद्धत्व नहीं आ रहा, वही रागद्वेष, वही विषय-कषाय जो अनादिकाल से चला आ रहा है, उसी ओर आज भी कदम बढ़ रहे हैं।

मनुष्य जीवन एक प्रकार का प्लेटफार्म है, स्टेशन है। अनादिकाल से जो जीवन रागद्वेष की ओर मुड़ गया है उसे हम वीतरागता की ओर मोड़ सकते हैं। जीवन की गाड़ी को इस मनुष्य जीवन रूपी स्टेशन से ही वीतराग मार्ग की ओर चला सकते हैं। यदि इस स्टेशन पर आ जाने पर भी आपको नींद आ जाती है, आलस्य आ जाता है तो एक बार इस स्टेशन से गाड़ी निकल

जाने के बाद वह मुड़ नहीं सकेगी। आलस्य को आप कर्म का उदय मानकर मत बैठे रहिये। यह आपके पुरुषार्थ को कमी मानी जायेगी। लोग कहते हैं कि जैसे ही सामायिक करने बैठता हूँ, जाप करने बैठता हूँ, स्वाध्याय करने के लिये सभा में आ जाता हूँ तो निद्रा आने लगती है। मैं सोचता हूँ आपकी निद्रा बड़ी सयानी है। जिस समय आप दुकान पर बैठते हैं और रुपये गिनते हैं उस समय कभी निद्रा नहीं आयी। वहाँ पर नहीं आती और यहाँ पर आती है। इसका अर्थ है-पुरुषार्थ की कमी है। रुचि की कमी है।

एक शास्त्र सभा जुड़ी थी। एक दिन एक व्यक्ति को सोते देखकर पंडित जी ने पूछा क्यों भइया! सो तो नहीं रहे हो। वह कहता है नहीं। वह ऊंघ रहा था फिर भी वह नहीं ही कहता है। एक दो बार फिर ऐसा ही पूछा तो उसने वही जवाब दिया और ऊंघता भी रहा। फिर पंडित जी ने अपना वाक्य बदल दिया और कहा कि भइया सुन तो नहीं रहे हो। उसने तुरंत उत्तर दिया नहीं तो। बात समझ में आ गयी। सीधे-सीधे पूछने से पकड़ में नहीं आ रहा था। यहाँ पर आचार्य कुंदकुंद स्वामी पूछ रहे हैं कि समयसार पढ़ रहे हो तो सभी कह देंगे कि पढ़ तो रहे हैं। यदि पढ़ रहे हैं तो परिवर्तन क्यों नहीं आ रहा है। इसका आगे है, सो रहे हैं किंतु कह रहे हैं कि सुन रहे हैं। यही प्रमाद है। समयसार पढ़ने-सुनने की चीज नहीं है। प्रमाद छोड़कर अप्रमत्त दशा की ओर आने की चीज है। एक ही गाथा जीवन को आत्मानुभूति की ओर ले जाने के लिए पर्याप्त है, पूरा समयसार रटने से कुछ नहीं होगा। जीवन उसके अनुरूप बनाना होगा। समयसार जीवन का नाम है, चेतन का नाम है, शुद्ध परिणति का नाम है। 'पर' की बात नहीं 'स्व' की बात है।

आप कह सकते हैं कि महाराज आप बार-बार इन्हीं बातों की पुनरावृत्ति करते जा रहे हैं। तो भइया! आप आत्मा की बात सुनना चाहते हैं या दूसरी बातें सुनना चाहते हैं। दूसरी संसार की बातें तो आप लोगों को मालूम ही हैं। आत्मा की बात अनूठी है। उसे अभी तक नहीं सुना। उसमें रुचि नहीं जागी, उसी रुचि को तो जगाना है। जिस ओर रुचि है उसको बताने की आवश्यकता नहीं है। धर्मोपदेश विषयों में रुचि जगाने के लिए नहीं है, आत्मा की रुचि जगाने के लिए धर्मोपदेश है।

एक बच्चे ने अपनी माँ से कहा कि माँ मुझे भूख नहीं लगी, आज कुछ नहीं खाऊँगा। 'क्यों' बेटा! बात क्या हो गई, माँ ने कहा। 'कुछ नहीं माँ'। तो खाने का समय हो गया। खा ले, सब शुद्ध है; शुद्ध आटा है, घी है।' 'मुझे

भूख नहीं है।' 'बात यह है कि आपने जो एक रुपया दिया था, उससे आज मैंने चाट-पकौड़ी खाली।" जिसे चाट पकोड़ी की आदत पड़ गई, अब उसे शुद्ध रसोई रुचिकर लगना मुश्किल है। ऐसे ही जिसे विषयों में रुचि हो गयी उसे आत्मा की बात रुचिकर मालूम नहीं पड़ती। भाई! थोड़ा विषयों को कम करो और आत्मा को चखो तो सही, कितना अच्छा लगता है। स्वाद में बदलाहट तभी आयेगी जब विषय सामग्री में रुचि होते हुए भी उसमें प्रयत्न पूर्वक कमी लायी जायेगी। एक हाथ से यह भी खाते रहें और दूसरे से वह, तो हाथ भले ही दो है किंतु मुंह तो दो नहीं है। जिह्वा तो एक ही है। स्वाद लेने की शक्ति तो एक ही है। दोनों मिलाओगे तो मिश्रण हो जायेगा, ठीक स्वाद नहीं आयेगा।

स्वात्मानुभूति का संवेदन आत्मा का जो स्वाद है वह स्वाद स्वर्ग में रहने वाले देवों के लिए भी दुर्लभ है। कहीं भी संसार में चले जाओ सभी के लिए दुर्लभ है। केवल उसी के लिए वह साध्यभूत है, संभव है जिन्होंने अपने संस्कारों को परिमार्जित कर लिया है, अर्थात् मनुष्य भव पाकर जो रागद्वेष से ऊपर उठ गये हैं। जिनकी अनुभूति में वीतरागता उतर आयी है। आप भी यदि एक बार देवगुरुशास्त्र के प्रति विश्वास करके, इस काम को हाथ में ले लो, तो मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ, दिलाना भी क्या, विश्वास आपको स्वयं करना होगा, विश्वास दिलाया भी नहीं जा सकता स्वयं किया जा सकता है कि आत्मा की उपलब्धि वीतरागता के द्वारा ही संभव है।

कहा गया है कि ऐसा कौन सा बुद्धिमान होगा जो परोक्ष ज्ञान के माध्यम से श्रद्धान में उतरने वाली चीज को हाथ में रखकर दिखा सके। केवली भगवान अपनी आत्मा को जानते-देखते हैं कि किंतु दिखा नहीं सकते। आत्मा को तो स्वयं देखना होगा, कोई दूसरा दिखा नहीं सकता। अनन्त शक्ति के धारक होकर भी केवली भगवान अपनी आत्मा को हाथ पर रखकर दिखा नहीं सकते। आत्मा दिखने की वस्तु नहीं है। आत्मा तो देखने की वस्तु है स्वरूप तो बताया जा सकता है लेकिन ज्ञात होने के बाद आपका यह परम कर्त्तव्य है कि प्रत्यक्षज्ञान को प्राप्त करके उसका संवेदन करें।

जैसे मार्ग पर जाती हुई गाड़ी को रोकना या चलाते रहना तो आसान है लेकिन उसकी दिशा बदलना, उसे सही दिशा में मोड़ना आसान नहीं है प्रयत्न साध्य है। इसी प्रकार जीवन की धारा को वीतरागता की ओर मोड़ने में प्रयास की आवश्यकता है। किंतु वीतराग से राग की ओर जाने में कोई प्रयास आवश्यक नहीं है वह तो अनादिकाल से उसी ओर जाने में अभ्यस्त

है। ऊपर की ओर कोई चीज फेंकने के लिए तो प्रयास की आवश्यकता है पर नीचे तो वह अपने आप आ जायेगी, प्रयास नहीं करना पड़ता। आप का अभ्यास तो ऐसा है कि अभी यहाँ से निवृत्त होते ही आपके कदम घर की ओर बढ़ जायेंगे। पर 'निज घर' कहाँ है इस ओर किसी का ध्यान नहीं है।

मुनि का अभ्यास अपनी ओर मुड़ने का है और आपका गृहस्थ का अभ्यास घर की ओर जाने, उसी ओर बढ़ने का है। वीतरागता की ओर मोड़ने के लिए वाचनिक प्रयास, मानसिक प्रयास और शारीरिक प्रयास सभी प्रयास होना आवश्यक है। एक बार स्वभाव की उपलब्धि हो जायेगी तो फिर विभाव की ओर जाना संभव नहीं है। एक बार प्रयास करके आप उस ओर बढ़ जायें फिर यात्रा प्रारम्भ हो जायेगी। थोड़ा परिश्रम होगा, पसीना आयेगा, कोई बात नहीं आने दो। टिकट खरीदते समय पसीना आता है, लाईन में लगते समय पसीना आ जाता है। ट्रेन में चढ़ते समय पसीना आ जाता है किंतु फिर बाद में बैठ जाने के उपरांत ट्रेन चलने लगेगी तब आराम के साथ यात्रा होगी। इस प्रकार मोक्षमार्ग में चलते-चलते थोड़ी तकलीफ लगेगी पर बाद में आनंद भी मिलेगा।

प्रारम्भ में औषधि कड़वी लगती है पर बाद में परिणाम मीठा निकलता है। यह मोक्षमार्ग रूपी औषधि भी ऐसी ही है जो अनादिकालीन रोग को निकाल देगी और शुद्ध चैतन्य-तत्व की उत्पत्ति उसमें से होगी और आनंद ही आनंद रहेगा उसमें। अध्यात्म को पढ़कर अपने जीवन को उसी ओर ढालने का प्रयास करना चाहिये, यही स्वाध्याय का और देवगुरुशास्त्र की उपासना का वास्तविक फल है। यदि प्रयास मोक्षमार्ग के लिए नहीं किया जायेगा तो संसार-मार्ग अनादिकाल से चल रहा है और चलता रहेगा। जीवन में सिवाय दु:ख के कुछ हाथ नहीं आयेगा। अपनाना है तो एकमात्र अपनाने योग्य मोक्षमार्ग है जो कि स्वाश्रित है। देव, गुरु शास्त्र उस स्वाश्रित मोक्षमार्ग में अनिवार्य आलम्बन हैं। इनके आलंबन से हम भवसागर से पार उतर सकते हैं और अनंत काल के लिए अपने शुद्धात्मा में लीन हो सकते हैं।

□□

परिग्रह

आज तक जितने लोगों ने अपनी आत्मा को पवित्र-पावन बनाया है वे सभी सिद्ध भगवान महान् अपरिग्रह महाव्रत का आधार लेकर आगे बढ़े हैं। उन्होंने मन-वचन-काय से इस महाव्रत की सेवा की है। अपरिग्रह-यह शब्द विधायक नहीं है, निषेधात्मक शब्द है। उपलब्धि दो प्रकार से हुआ करती है और प्ररूपणा भी दो प्रकार से हुआ करती है-एक निषेधमुखी और दूसरी विधिमुखी। परिग्रह के अभाव का नाम अपरिग्रह है। परिग्रह को अधर्म माना गया है। इसलिए अपरिग्रह स्वत: ही धर्म की कोटि में आता है। इस अपरिग्रह धर्म का परिचय, इसकी अनुभूति, इसकी उपलब्धि आज तक पूर्णत: हमने की ही नहीं। क्योंकि जब तक बाधक तत्व विद्यमान हैं साध्य की प्राप्ति संभव नहीं है।

जैसे धर्म और अधर्म एक साथ नहीं रह सकते। अंधकार और प्रकाश एक साथ नहीं रह सकते। इसी प्रकार परिग्रह के रहते हुए जीवन में अपरिग्रह की अनुभूति नहीं हो सकती। परिग्रह को महावीर भगवान ने पाँच पापों का मूल कारण माना है। संसार के सारे पाप इसी परिग्रह से उत्पन्न होते हैं। हमारा आत्मतत्त्व स्वतंत्र होते हुए भी, एकमात्र इसी परिग्रह की डोर से बंधा हुआ है। परिग्रह शब्द की व्युत्पत्ति इस ओर इशारा भी करती है जो विचारणीय है। परि आसमन्तात् ग्रहणाति आत्मानं इति परिग्रह: - जो आत्मा को सब ओर से घेर लेता है, जकड़ देता है वह परिग्रह है। आत्मा जिससे बंध जाता है उसका नाम परिग्रह है।

मात्र बाह्य वस्तुओं के ग्रहण का नाम परिग्रह नहीं है। मूर्छा ही परिग्रह है। बाह्य पदार्थों के प्रति जो अटेचमेंट है, लगाव है उसके प्रति रागानुभूति है, उसमें जो एकत्व की स्थापना का भाव है वह परिग्रह है। जहाँ आप रह रहे हैं वहीं पर अर्हन्त परमेष्ठी भी हैं, साधु परमेष्ठी भी हैं। वहीं पर पुनीत आत्माएँ रह रही हैं। किंतु वही स्थान आपके लिए दुख का स्थान बन जाता है और वही उन आत्माओं के लिए जरा भी प्रभावित नहीं करता, सुख-दुख का कारण नहीं। वास्तव में, पदार्थ दुख-सुख का कारण नहीं है। अपितु उसके प्रति जो मूर्छा-भाव है, जो ममत्व है वही दुख का कारण है। इसी का नाम परिग्रह है।

विशालकाय हाथी को कोई बांध नहीं सकता। वह स्वयं बंध जाता है, उसकी मूर्छा उसे स्वयं बंधन में डाल देती है। इसी प्रकार तीन लोक को जानने की अनन्त-शक्ति और अनन्त-आलोक जिस आत्मा के पास विद्यमान है वह आत्मा भी मूर्छित है, सुप्त है जिससे उसकी वह शक्ति भूलुण्ठित हो रही है। आप चार पापों के प्रति अत्यंत सावधान हैं। आप हिंसा से परहेज करते हैं, झूठ से बचते हैं, 'चोरी नहीं करूँगा' ऐसा संकल्प ले सकते हैं और लौकिक ब्रह्मचर्य के प्रति भी आपकी स्वीकृति है किंतु परिग्रह को आप विशेष रूप से सुरक्षित रखे हुए हैं। वह पाप मालूम ही नहीं पड़ता।

आज हिंसा करने वाले का कोई आदर नहीं करता, झूठ बोलने वाले, चोरी करने वाले का अनादर ही होता है, लेकिन परिग्रही का आज भी आदर हो रहा है। जितना परिग्रह बढ़ता है वह उतना ही बड़ा आदमी माना जा रहा है, जो कि धर्म के लिए सत्य नहीं है। धर्म कहता है कि परिग्रह का समर्थन सारे पापों का समर्थन है। आप धर्म चाहते हैं किंतु परिग्रह को छोड़ना नहीं चाहते। इससे यही प्रतीत होता है कि आप अभी धर्म को नहीं चाहते। धर्म तो अपरिग्रह में है।

मूर्छा रूपी अग्नि के माध्यम से आपकी आत्मा तप्त है, पीड़ित है और इसी के माध्यम से कर्म के बंधन में जकड़ा हुआ है। आत्मा की शक्ति इसी के कारण समाप्त प्राय हो गयी है। वह अनंत शक्ति पूर्णत: कभी समाप्त तो नहीं होती लेकिन मूर्छा के कारण सुप्त हो जाती है। जैसे आकाश में बादल छा जाते हैं तो सूर्य ढक जाता है। प्रकाश तो होता है, दिन उग आता है लेकिन सूरज दिखायी नहीं पड़ता। इसी प्रकार मूर्छा के बादलों में ढका आत्मा दिखायी नहीं देता। आत्म-दर्शन के लिए स्वयं को परिग्रह से मुक्त करना अनिवार्य है।

दिखता है बाहर से कि आप परिग्रह से नहीं चिपके किंतु अंदर से कितने चिपके है यह आप स्वयं समझते हैं। लगभग पंद्रह-सोलह वर्ष पुरानी घटना है। मैं एक आमवृक्ष के नीचे बैठा था। वृक्ष में आम लगे हुए थे। बच्चे आम तोड़ने के लिए पत्थर फेंक रहे थे। मैं भी उस समय बच्चों के साथ हो गया। गृहस्थ अवस्था की बात है, एक-एक करके कई पत्थर फेंक दिये किंतु आम नहीं गिरे, आम की एक कोर टूटकर गिर गई। यह शायद आम की ओर से सूचना थी कि मैं इस प्रकार टूटने वाला नहीं हूँ। फिर जिसने भी पत्थर फेंका, एक कोर ही आ गयी पर पूरा आम कोई भी नहीं टूटा।

पर्याप्त था मेरे लिए यह बोध जो उस आम की ओर से प्राप्त हुआ। बाहरी पदार्थों के प्रति अंतरंग में जितनी गहरी मूर्छा होगी, हमारी पकड़ भी उतनी ही मजबूत होगी। पदार्थों को छोड़ना उतना ही मुश्किल होगा। पदार्थ कदाचित् हटा भी लिये जायें तो भी हमारा मन वहीं जाकर चिपक जायेगा। तो पहली बात यही है कि भीतरी पकड़ ढीली पड़नी चाहिये।

थोड़ी देर जब मैं उसी वृक्ष के नीचे रुका तो उसी समय थोड़ा सा हवा का झोंका आया और एक पका हुआ आम आकर नीचे चरणों में गिर गया। उसकी सुगंधि फैलने लगी, हरा नहीं था वह पीला था, कड़ा नहीं था मुलायम था, चूसकर देखा तो वह मीठा भी था। आनंद की अनुभूति हुई। मैं सोचने लगा कि इस आम को गिरने के लिए हवा का झोंका भी पर्याप्त था क्योंकि यह वृक्ष से जो सम्बंध था उसे छोड़ने के लिये तैयार हो गया। आपने कभी अनुभव किया कि उस आम ने वृक्ष से सब बंधन तोड़ दिये; ऊपर से दीखता था कि संबंध जुड़ा हुआ है किंतु जरा सा इशारा पाकर वह वृक्ष से पृथक् हो जाता है। तो दूसरी बात यह मिली कि जो जितना भीतर से असम्पृक्त होगा वह बाहर से जुड़ा होकर भी इशारा पाते ही मुक्त हो जायेगा। इस तरह जब कोई मुक्त होता है तो उसकी सुगंध, उसकी मिठास आनंददायक होती है।

यह तो समय पर एकाध आम पकने की घटना हुई। लेकिन पकने की योग्यता आते ही पूर्णत: पकने से पूर्व यदि कोई होशियार माली उन्हें सावधानी से तोड़ लेता है तो भी उसे पाल में आसानी से पकाया जा सकता है। आप समझ गये सारी बात, पर भइया डरो मत, मैं जबर्दस्ती आपको पकाने की बात नहीं कहूँगा। आपका ठण्डल अभी मजबूत है। इतना अवश्य है कि अपरिग्रह की बात समझ में आ जाये तो संभव है कुछ समय में पक सकते हैं। अर्थात् पदार्थों के प्रति मूर्छा कम होने के उपरांत यदि उन्हें छोड़ दिया जाए तो भी छूटना संभव है। समय से पहले भी यह घटना घट सकती है। अविपाक निर्जरा के माध्यम से साधक इसी प्रकार समय से पूर्व कर्मों को झाड़ा देता है, और परिग्रह से मुक्त होकर मोक्षमार्गी होकर आत्म-कल्याण कर लेता है।

आप लोगों ने अपनी निजी सत्ता के महत्व को भुला दिया है। इसी कारण निधि होते हुए भी लुट गयी है। आप आनंद की अनुभूति चाहते हैं लेकिन वह कहीं बाहर से मिलने वाली नहीं है। वह आनंद, वह बहार अपने अंदर है। बसंत की बहार बाहर नहीं है वह अंदर ही है। लेकिन जो अंधा

हो उसे चारों ओर बहार होते हुए भी दिखायी नहीं देती। उपयोग में जो एक प्रकार का अंधापन छाया है, मूर्छा छायी है वह मूर्छा टूट जाये तो वहीं पर बसंत बहार है। आत्मा का आनंद वहीं पर है।

एक किंवदन्ति है। एक बार भगवान ने भक्त की भक्ति से प्रभावित होकर उससे पूछा कि तू क्या चाहता है? भक्त ने उत्तर दिया कि मैं और कुछ अपने लिए नहीं चाहता। बस यही चाहता हूँ कि दुखियों का दुख दूर हो जाये। भगवान ने कहा 'तथास्तु। ऐसा करो जो सबसे अधिक दुखी है उसे यहाँ लेकर आना होगा।' भक्त ने स्वीकार कर लिया। भक्त बहुत खुश था कि इतने दिनों की भक्ति के उपरांत यह वरदान मिल गया। बहुत अच्छा हुआ, अब मैं एक-एक करके सारी दुनियाँ को सुखी कर दूँगा। भक्त, दुखी की तलाश करता है। एक-एक व्यक्ति से पूछता जाता है। सब यही कहते हैं कि और तो सब ठीक है बस एक कमी है। कोई पुत्र की कमी बताता, तो कोई धन की, कोई मकान या दुकान की कमी बता देता है पर मुझे पूर्ण कमी है ऐसा किसी ने नहीं बताया।

चलते-चलते उसने देखा कि एक कुत्ता नाली में पड़ा तड़प रहा है, वह मरणोन्मुख है। उसने जाकर पूछा कि क्यों, क्या हो गया है? कुत्ता कहता है कि मैं बहुत दुखी हूँ। भगवान का भजन करना चाहता हूँ। भक्त ने सोचा यह सचमुच बहुत दुखी है। इसे ले चलना चाहिये। उसने कुत्ते से कहा कि तुम दुख से मुक्ति चाहते हो तो चलो, तुम स्वर्ग चलो वहाँ पर सुख ही सुख है। मैं तुम्हें वहाँ ले चलता हूँ। कुत्ते ने कहा बहुत अच्छा। पर यह तो बताओ कि वहाँ क्या-क्या मिलेगा। सभी सुख सुविधाओं के बारे में पूछने के उपरांत कुत्ते ने आश्वस्त होकर कहा कि ठीक है चलते हैं किंतु एक बात और पूछनी है कि स्वर्ग में ऐसी नाली मिलेगी या नहीं। भक्त हँसने लगा और कहा कि ऐसी नाली स्वर्ग में नहीं है। तब फौरन कुत्ता बोला कि नाली नहीं है तो फिर क्या फायदा! मुझे यहीं रहने दो, यहाँ ठंडी-ठंडी लहर आती हैं।

अब विचार करिये। कैसी यह मूर्छा है? पाप-प्रणाली अर्थात् पाप रूपी नाली को कोई छोड़ना नहीं चाहता। सबके मुख से यही वाणी सुनने को मिलती है कि यहाँ से छुटकारा मिल जाये पर मांग यही है कि हम यहीं पर बने रहें। सभी सुख चाहते हैं लेकिन परिग्रह छोड़ना नहीं चाहते। आचार्यों ने विद्वानों ने सभी ने कहा है कि 'घर कारागृह, वनिता बेड़ी, परिजन हैं रखवारे' घर कारागृह है, गृहणी बेड़ी है बंधन है और जो परिवार जन हैं वे रखवाले

हैं। आप कहीं जायें तो वे पूछ लेते हैं कि कहाँ जा रहे हैं आप? कब तक लौटेंगे? इस प्रकार का यह मोह जाल है, उसमें आत्मा जकड़ती चली जाती है और जाल में फंसकर जीवन समाप्त होता जाता है।

मूर्छा का उदाहरण रेशम का कीड़ा है। जो अपने मुख से लार उगलता रहता है और उस लार के माध्यम से वह अपने शरीर को स्वयं आवेष्टित करता चला जाता है। वह लार रेशम की तरह काम आती है जिसके लिए रेशम के कीड़े को जिंदगी से हाथ धोना पड़ता है। यह उसकी ही गलती है, उसका ही दोष है। वह चाहे तो उससे बाहर आ सकता है लेकिन लार इकट्ठी करने का मोह नहीं छूटता, और जीवन नष्ट हो जाता है। संसारी आत्मा भी प्रत्येक समय रागद्वेष मोह, मद, मत्सर के माध्यम से स्वयं के परिणामों को विकृत बनाता रहता है जिसके फलस्वरूप अनंत कर्म वर्गणाएं आकर चिपकती चली जाती हैं और यह बंधन की परम्परा अक्षुण्ण चलती रहती है।

आत्मा को न कोई दूसरा सुखी बना सकता है न कोई दूसरा इसको दुखी बना सकता है। यह स्वयं ही अपने परिणामों के द्वारा सुखी बन सकता है और स्वयं ही दुखी बना हुआ है। यह अजर है, अमर है, इसे मिटाने वाला कोई नहीं है। यह चाहे तो रागद्वेष, मोह को मिटाकर अपने संसार को मिटा सकता है और अपने शाश्वत स्वभाव में स्थित होकर आनंद पा सकता है। यह संभाव्य है। उन्नति की गुंजाइश है। किंतु उन्नति चाहना बहुत कठिन है। आप प्रत्येक पदार्थ को चाह रहे हैं किंतु निजी पदार्थ की चाह आज तक उद्भूत नहीं हुई। मोह की मूर्छा बहुत प्रबल है। पर ध्यान रहे मोह जड़ पदार्थ है और आप चेतन हैं, मोह आपको प्रभावित नहीं करता किन्तु आप स्वयं मोह से प्रभावित होते हैं।

आत्मा की अनंत शक्ति को जागृत करके आप चाहें तो अतीत में बंधे हुए मोह कर्म को क्षणभर में हटा सकते हैं। आप सोचते हैं कि कर्म तो बहुत दिन के हैं और इनको समाप्त करना बहुत कठिन है, तो ऐसा नहीं है। एक प्रकाश की किरण अनंतकाल से संचित अंधकार को मिटाने के लिए पर्याप्त है। 'मोह' बलवान नहीं है यह आपकी कमजोरी है, 'मन के हारे हार है मन के जीते जीत। आप कमजोर पड़ जाते हैं तो कर्म बलवान मालूम पड़ने लगते हैं। आपके मकान की दीवार से हवा टकराती हुई जा रही है किंतु कोई असर नहीं होता। यदि उस दीवार पर आप थोड़ी सी चिकनाहट लगा लें तो